विधवा विवाह

लेखक—

पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्मा (विद्यासागर)

अनुवाद कर्त्ता—

जयदेव शर्मा विद्यालंकार।

प्रथमवार २०००] १९२१ [मूल्य १॥)

प्रकाशक—

गोविन्दराम हासानन्द

वैदिक पुस्तकालय,

२७० अपर चितपुर रोड,

कलकत्ता।



बाबू नरसिंहदास अग्रवाल,

द्वारा

श्रीलक्ष्मी प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,

२७० अपर चितपुर रोड, कलकत्तामें

मुद्रित।

विषय सूचि

पृष्ट

विधवा-विवाह —



पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

जन्म सं० १८७७ आश्विन।] ❀ [मृत्यु सं० १९४८ श्रावण।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महोदयका
संक्षिप्त परिचय।

जन्म।

विक्रम संवत् १८७७ (बंगला १२२७ और अंग्रेजी सन् १८२०) को आश्विन कृष्णा द्वादशी मङ्गलवारको दोपहरके समय मेदिनीपुर जिलेके अन्तर्गत वीरसिंह गांवके एक गरीब ब्राह्मण का नाम ठाकुरदास बन्द्योपाध्याय और स्त्रीका नाम भगवती देवी घरानेमें ईश्वरचन्द्रका जन्म हुआ था। विद्यासागर महोदयके पिता माता गरीब अवश्य थे, लेकिन वे निष्ठावान और कर्त्तव्य-परायण थे। जिन आचारों और आवरणोंको देख बाल बच्चे अपने भावी जीवनको उत्तम बना सकते हैं उनकी ईश्वरचन्द्रके घरमें कमी न थी।

सर्व प्रथम ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय महोदय कलकत्ते धनोपार्जनार्थ पधारे, और अपने एक निकटवर्ती सम्बन्धीके यहां रहने एवं भोजनादि करने लगे। कुछ समय बाद उसी मित्रने दो रुपये महीनेकी नौकरी दिला दी। इस पर ठाकुरदास को असीम आनन्द हुआ। वे पहलेकी तरह उन्हीं आश्रयदाताके घरमें रहकर अनेकानेक कष्ट उठाकर गुजर करते हुए दो रुपये महीनेकी सहायता अपनी माताको देने लगे।

उस समय दो रुपये महीनेकी नौकरी पर खुशी मनाना कोई आश्चर्य नहीं था। उस समय आठ दस आनेमन चावल, और एक रुपये मन दूध मिलता था। थोड़े दिनोंके बादही बड़े बाजारमें भागवत चरण सिंह नामक एकधनी आदमीके यहां आठ ८)रुपये वेतन एवं दोनों वक्त पेट भर भोजन मिलने लगा। ठाकुरदासके

वेतन बढ़नेकी ख़बर पाकर उनकी माता दुर्गादेवीको असीम आनन्द हुआ।

इस समय ठाकुरदासकी अवस्था तेईस चौबीस वर्षकी होगी ठाकुरदासके पिता रामजयतर्क भूषण महाशयने पुत्रका व्याहकरना चाहा। गोघाट निवासी रामकान्त तर्कवागीशकी तीसरी कन्या भगवती देवीके साथ उनका व्याह हो गया। साक्षात् अन्नपूर्णा भगवतीदेवीके गर्भसे ही स्वनामधन्य विद्यासागरजीका जन्म हुआ।

बचपन और विद्याध्ययन।

जबसे ईश्वरचन्द्रका जन्म हुआ तबसे ठाकुरदासके परिवारको सब तरहके सुयोग और सुख प्राप्त होने लगे। इस कारण सब लोग बालकको स्नेहकी दृष्टिसे देखते थे। बहुत दुलारे होनेके कारण ईश्वरचन्द्रकी अदम्य प्रकृतिमें अधिक स्फूर्तिका विकास होने लगा। पांच वर्षकी अवस्थामें बालक ईश्वरचन्द्रको आदर्श गुरु कालीकान्त चट्टोपाध्याय महाशयकी पाठशालामें वीरसिंह गांवमें पढ़नेके लिये बिठलाया गया।

आठवर्षकी अवस्था तक कालीकान्तकी पाठशालामेंही विद्याभ्यास करते रहे। इनकी मेधावी, तीक्ष्ण-बुद्धि और पढ़नेमें परिश्रमी देखकर इनके गुरु इनसे बड़ा स्नेह करते थे। ईश्वरचन्द्र अपने गुरुके प्रिय शिष्य थे। गुरुजी सबसे बढ़कर इनका आदर करते थे। इन तीनही वर्षोंमें ईश्वरचन्द्रने पाठशाला की शिक्षा एक प्रकारसे समाप्त कर दी।

गुरुजीने एक दिन ईश्वरचन्द्रके पितासे कहा—"यहांकी पाठशालामें जो कुछ पढ़ाया जाता है सो सब ईश्वरने पढ़ लिये। यह बहुत अच्छे अक्षर लिखता है। अब इसे कलकत्ते ले जाकर

अंगरेजीकी शिक्षा दिलाना अच्छा होगा। यह बालक जैसा मेधावी है, इसकी स्मृतिशक्ति जैसी प्रबल है उससे कहा जा सकता है कि यह जो कुछ सीखेगा उसीमें यथेष्ट पारदर्शी होगा।

इसके कुछ दिन बाद ईश्वरचन्द्रके बाबा (पितामह) रामजय तर्कभूषणको छिहत्तर वर्षकी अवस्थामें अतिसार रोगसे मृत्यु हो गई। इसी अवसरपर ठाकुरदासको कलकत्तेसे घर जाना पड़ा। पिताका कृत्य समाप्त करके ठाकुरदास अपने प्रिय ईश्वरचन्द्रको कलकत्ते साथ लेते आये। इनको कलकत्ते साथ लानेका मुख्य उद्देश्य पास रखकर अच्छी तरह लिखाना पढ़ाना था; साथ गुरु कालीकान्त भी थे।

कलकत्ते आकर ठाकुरदास पुत्रको पढ़ाने लिखानेकी नई व्यवस्था करनेके लिये उत्सुक हो रहे थे। सब ईश्वरचन्द्रको अंगरेजी स्कूलमें भर्ती करा देनेकी सलाह देने लगे; किन्तु ठाकुर दासकी इच्छा और ही कुछ थी। इस वंशके सभी पूर्व पुरुष संस्कृतके प्रसिद्ध अध्यापक होते आये थे। गरीबीके कारण वे स्वयं इस सम्मानके सुखसे वञ्चित थे। इसीसे पुत्रको वे संस्कृत की शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने यह विचार कर रक्खा था, कि ईश्वरचन्द्रको संस्कृत पढ़ाकर गांवमें एक पाठशाला खोल देंगे। उसमें गांवके आस पासके लड़के संस्कृत शिक्षा प्राप्त करेंगे। उस समय ईश्वरचन्द्रको माताके मामा राधामोहन विद्याभूषणके चाचाके लड़के मधुसूदन वाचस्पतिजी कलकत्तेके संस्कृत कालेजमें पढ़ रहे थे। उन्हींके उत्साह और सलाह देनेसे ठाकुरदासने पुत्रको सन् १८२८ की पहिली जूनको नव वर्षकी अवस्थामें, ईश्वरचन्द्रका नाम संस्कृत कालेजमें लिखा दिया गया। ईश्वरचन्द्र कालेजमें जाकर व्याकरणकी तीसरी श्रेणीमें पढ़ने लगे।

कालेजमें भर्ती होनेके छः महीने बाद जो परीक्षा होती है उसमें पास होकर ईश्वरचन्द्रने ५) पांच रुपये मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त की।

विद्यालयमें ईश्वरचन्द्रकी देख रेख उनके अध्यापक ही बड़ी सतर्कतासे करते थे। और उनके पिता खुद पहुंचा जाते और ले आते थे, इस कारण कच्ची उम्रमें ईश्वरचन्द्र बुरी संगतिमें नहीं पड़े। अनेक कोमलमति, सरलचित्त, और बुद्धिमान बालक बुरे संगमें पड़कर अक्सर बिगड़ जाते हैं और आगे चलकर सुशिक्षा और सच्चरित्रसे हीन होनेके कारण अपना और अपने वंशका नाश कर डालते हैं। ठाकुरदास जैसे धर्मशील, कर्त्तव्य परायण पिताके कारण हो ईश्वरचन्द्र सब बुराइयोंसे बच गये। जब ईश्वरचन्द्र समझदार हो गये तब अकेले जाने आनेके लिये स्वतन्त्र कर दिये गये।

ईश्वरचन्द्रने इधर थोड़े ही दिनोंमें, व्याकरण और साहित्यमें विशेष रूपसे विज्ञता प्राप्त करली। इस बीचमें जब कभी ईश्वर-चन्द्र अपने गांव वीरसिंह जाते थे, गांवके अनेक विद्वानोंसे संस्कृतमें वार्तालाप और व्याकरण आदि विविध विषयों पर विचार किया करते थे।

इस सम्भाषणसे वीरसिंह और उसके निकटवर्ती अनेक स्थानोंमें ईश्वरचन्द्रकी विद्वत्ता की धाक जम गई।

मेदनीपुर, वर्द्वान और हुगली जिलेके अनेक स्थानोंसे ईश्वर-चन्द्रके विवाहका प्रस्ताव लेकर लोग आने लगे। अन्तमें क्षीर-पाई निवासी शत्रुघ्न भट्टाचार्यकी कन्याके साथ व्याहकी बात पक्की हुई। शत्रुघ्न भट्टाचार्य सुसम्पन्न ग्रामके वासी तथा धनवान भी थे और गांवके लोग उन्हें मानते भी थे। उनकी कन्या दीन मयी गुण और रूपमें सम्पन्न थी। वाग्दान करते समय भट्टा-

चार्य्यने ठाकुरदाससे कहा था कि "वन्द्योपाध्याय महाशय आपके धन नहीं है; परन्तु आपका पुत्र बड़ा भारी विद्वान है। केवल इसी कारण मैं अपनी कन्या आपके पुत्रको अर्पण करता हूं। ईश्वरचन्द्रकी उस समय विवाह करनेकी बिलकुल इच्छा नहीं थी। किन्तु पिताके खिन्न होनेके भयसे थोड़ीही अवस्थामें विवाह बन्धनमें बंधना उन्होंने स्वीकार कर लिया। विवाहके समय ईश्वर-चन्द्र चौदह वर्षके और उनकी स्त्री दीनमयी आठ वर्षकी थी।

ईश्वरचन्द्रने साहित्यपाठ समाप्त कर पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें अलङ्कारकी श्रेणीमें प्रवेश किया। एक सालमें साहित्य दर्पण काव्य प्रकाश और रस गङ्गाधर आदि अलङ्कार ग्रन्थ पढ़े और सालाना परीक्षामें प्रथम रहे। इस समय ईश्वर-चन्द्रको कठिन परिश्रम करना पड़ता था और साथही घरपरके सब काम काजका भार इन्हींके सिर था। इस कारण परीक्षा देनेके बाद बहुत बीमार होगये। फिर खूनी बवासीरकी शिका-यत बढ़ गई। कलकत्तेमें अनेक प्रकारकी दवाओंसे भी बीमारीका जोर न घटनेपर लाचार हो कुछ दिनोंके लिए वीरसिंह जाना पड़ा वहां एक ब्राह्मणने मट्ठेके साथ पका हुआ जमीकन्द खिलाकर रोग शान्त कर देनेपर कलकत्ते आकर पहलेकी तरह काम काज और पढ़ने लिखनेमें परिश्रम करने लगे।

ईश्वरचन्द्र लड़कपनसे ही माता पितापर बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते थे और भाई बहनोंसे बहुत प्यार करते थे। एक दिन शामको अपने छोटे भाई दीनबन्धुको बाजार भेजा; किन्तु ग्यारह बजे तक वे लौटकर नहीं आये। यह देखकर भयभीत हो ईश्वर-चन्द्र जोर जोरसे रोने लगे। अन्तमें लोगोंकी सलाहसे बाजारमें खोजने निकले। खोजते खोजते देखा कि भाई दीनबन्धु एक दीवा-रके सहारे सो रहे हैं। भाईको जगाकर घर पर ले आये।

ईश्वरचन्द्रको वचपनसे ही प्रतिमा पूजापर श्रद्धा न थी ; किन्तु निष्ठावान हिन्दू जिस तरह भक्तिपूर्वक देवपूजा करते हैं उसी तरह वे अपने माता पिताकी पूजा करते थे। वे कहते थे कि संसारमें माता पिता सजीव देवता हैं। माता पिताकी पूजा छोड़कर या माता पिताके प्रति उदासीन रहकर उनके दुःख कष्ट पर ध्यान न देकर प्रतिमा पूजा करनेसे धर्म नहीं होता।

सत्रह वर्षकी आयुमें ईश्वरचन्द्र स्मृतिशास्त्रकी परीक्षामें बैठे; जिस परीक्षाके लिये अन्यान्य छात्रोंको दो तीन साल तक कठोर परिश्रम करके मनुसंहिता, मिताक्षरा, दायभाग आदि ग्रन्थ पढ़ने पड़ते थे। उसके बाद परीक्षा देने पर कोई पास होता था और कोई विफल-मनोरथ होकर कालेज छोड़ देता था। किन्तु बालक ईश्वरचन्द्रने सब काम छोड़कर दिन रात परिश्रम करके, छः महीने में ही इन सब कठिन और दुर्बोध्य ग्रन्थोंको पढ़ लिया और ला-कमेटी की परीक्षा में भी विशेष प्रशंसा के साथ पास हुए। ईश्वरचन्द्रके ला-कमेटी की परीक्षामें पास होनेके कुछ दिन बाद ही त्रिपुरा-राज्यके जज-पण्डित का पद खाली हुआ। सत्रह वर्षके बालक ईश्वरचन्द्र यह पद पानेके लिये अर्जी दी। इनकी अर्जी मंजूर होगई। किन्तु पिताकी सलाह न होने पर वह नौकरी न कर सके।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें अन्यान्य परीक्षाओंमें पास हो कर ईश्वरचन्द्रने वेदान्त की श्रेणीमें नाम लिखाया। इस श्रेणीके अध्यापक शम्भुचन्द्र वाचस्पति भी ईश्वरचन्द्र की प्रतिभा पर मुग्ध थे। जिन विषयों या स्थलोंपर अध्यापक महाशय को कुछ संदेह होता था वहां अध्यापक महाशय ईश्वरचन्द्रसे तर्क

वितर्क करते थे और अक्सर इसप्रकार की आलोचना में उलझन सुलझ जानेपर वाचस्पति महाशय सन्तुष्ट होकर कहते थे कि "तुम सचमुच ईश्वर हो।"

वेदान्त श्रेणीमें पढ़नेके समय अध्यापक शम्भुचन्द्र वाचस्पति महाशय जी अवस्थामें बहुत बड़े होनेपर भी ईश्वरचन्द्रके गुणोंपर मुग्ध होकर स्नेहवश उनसे मित्रका सा व्यवहार करते थे। वाचस्पति महाशय ऐसे वृद्ध थे कि उन्हें नहाने, खाने और मल-मूत्र त्यागने के लिये जाने में भी दूसरे की सहायता की जरूरत पड़ती थी। स्नेहवश योग्य विद्यार्थी ईश्वरचन्द्र अक्सर गुरु-महाशय की सेवा किया करते थे। गुरुजी भी ईश्वरचन्द्रसे सलाह किये विना प्रायः कोई काम नहीं करते थे। गुरु-शिष्यमें घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ऐसे समय एकदिन वाचस्पति जीने फिर विवाह करने की इच्छा प्रगट की और ईश्वरचन्द्रसे राय मांगी। ईश्वरचन्द्रने निर्भय होकर कहा "इस बुढ़ापेमें फिर विवाह करना कभी उचित नहीं। आपके अब और अधिक जीने की कोई सम्भावना नहीं है। व्याह करके क्या आप एक निरपराध बालिकाको सदा के लिये दुखिया बनाना चाहते है? व्याह कैसा, व्याहके लिये ख्याल करना भी आपके लिये महापाप है। वाचस्पतिजीने अपने कष्ट दुःखों को कह सुनाया और सम्मत होने पर राजी करना चाहा किन्तु ईश्वरचन्द्र अपनी बातपर अटल रहे अन्तमें ईश्वरचन्द्रने वाचस्पतिजीको बहुत कुछ समझाया, अनुरोध किया। परन्तु वाचस्पतिजी ने नहीं माना। और थोड़े दिनोंमें ही एक गरीब ब्राह्मण की परम-सुन्दरी बालि-काके साथ वृद्ध वाचस्पतिजी का विवाह हो गया। ईश्वरचन्द्र को इस घटना से दारुण दुःख हुआ। कुछदिन बाद वाचस्पति जी ने ईश्वरचन्द्रसे कहा—ईश्वर तुम अपनी मा को देखने नहीं

आये। ईश्वरचन्द्र यह सुनकर रोने लगे। फिर एकदिन वाचस्पतिजी जबरदस्ती ईश्वरचन्द्रको घर ले गये। दूर से गुरुबधू बालिकाको प्रणाम करके उसके चरणों के पास दो रुपये रखकर बाहर निकल आये। किन्तु वाचस्पति जी फिर ईश्वरचन्द्रका हाथ पकड़कर भीतर ले आये और दासी के द्वारा नववधूका घूंघट खुलवा कर उन्हें उनकी माता (गुरु-पत्नि) के दर्शन कराये। बालिकाको देख कर और भविष्य परिणाम को सोच कर ईश्वरचन्द्रकी आंखों से आंसुओंकी झड़ी लग गई। उसके उपरान्त गुरुजीने शिष्यसे कुछ जलपान (भोजन) करनेके लिये अनुरोध किया; किन्तु प्रतिज्ञामें हिमवान् के समान अटल ईश्वरचन्द्र किसी तरह जलपान करनेके लिये राजी नहीं हुए। ईश्वरचन्द्रने कहा—"इस घरमें मैं कभी जल ग्रहण नहीं कर सकता।"

इसके कुछ दिनों बाद ही बालिका को जन्म भरके लिये दुखिया बनाकर बृद्ध वाचस्पतिजी बैकुण्ठ वास कर गये।

ईश्वरचन्द्र जवान भी नहीं हुए थे, उनकी विद्याशिक्षा समाप्त नहीं दुई थी, उसी समय उनके हृदय में बाल-वैधव्यका भयानक चित्र अंकित हो चुका था। उसका प्रथम सूत्रपात वृद्ध वाचस्पति की बालिका पत्नीका वैधव्य और दुःख देखकर ही हुआ था। पीछेकी और सब घटनाएं गौणरुप से सहायक मानी ज़ा सकती है।

पितृभक्ति

न्याय और दर्शन-शास्त्र की श्रेणीमें जिस समय विद्यासागर पढ़ते थे उस समय दो महोनेके लिये व्याकरण की द्वितीय श्रेणीके अध्यापकका पद खाली हुआ था। ईश्वरचन्द्रकी योग्यता स्मरण करके कालेजके प्रिन्सिपल ने उन्हींको दो महीने

के लिये यह पद दिया। ईश्वरचन्द्रको चालीस रुपया माहवारी के अस्सी ८०) रुपये मिले। ईश्वरचन्द्रने वे रुपये पिताके हाथमें रखकर कहा—"इन रुपयोंसे आप तीर्थ यात्रा कर आइये"।पुत्रकी ऐसी पितृभक्ति देख कर ठाकुर दास और अन्यान्य लोग बहुत प्रसन्न हुए।

पिताने तीर्थयात्रा से लौटकर देखा, ईश्वरचन्द्रने दर्शनशास्त्र की परीक्षामें प्रथम होकर सौ रुपये, सर्वोत्कृष्ट रचना करके सौ रुपये, आईनकी परीक्षाके पुरष्कारमें पचीस रुपये और उत्तम हस्ताक्षरों के पुरस्कारमें आठ रुपये, सब मिलाकर २३३) रुपये पाये हैं। ईश्वरचन्द्रने ये सब रुपये पिताके हाथमें रखकर कहा "इन रुपयों से ऋण चुका डालिये।"

विद्यासागरकी उपाधि।

चार साल तक दर्शन-शास्त्र पढ़कर अन्तको षट्-दर्शनकी परीक्षा भी ईश्वरचन्द्रने विशेष योग्यता के साथ पास कर ली। दर्शनशास्त्रके अध्यापक जयनारायण तर्कपञ्चानन का कथन है कि "ऐसा मेधावी और अद्भुतकर्मा छात्र और कभी मैंने नहीं देखा" ईश्वरचन्द्रकी प्रतिभा की प्रशंसा इससे अधिक और क्या हो सकती है।

सब श्रेणियोंके अध्यापकोंने ईश्वरचन्द्र ऐसे असाधारण धीशक्ति सम्पन्न (बुद्धिशाली) बालक के शिक्षक बनकर अपनेको धन्य समझा।

१८२९ ईस्वीमें ईश्वरचन्द्र संस्कृत कालेज में भर्ती हुए थे। १८४१ दिसम्बर ४ तारीखके कालेजके उच्च अधिकारियोंने २१वर्ष की अवस्थामें नवपुलक ईश्वरचन्द्रको विद्यासगर की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया।

नौकरी।

सन १८४१ के शेष भागमें विद्यासागर महोदयने कलकत्ते के फोर्टविलियम कालेजमें ५०) रुपये माहवार पर नौकरी आरम्भ की। नौकरी पाते ही पिताको नौकरी छोड़ देने के लिये अनुरोध किया। पुत्रके अधिक अनुनय-विनय करने पर पिताको नौकरी छोड़कर घर जाना ही पड़ा। उस समय ठाकुरदास केवल १०) रुपया माहवारी तनखाह पाते थे। विद्यासागरजीने उन्हें हर महीने २०) रुपये देनेका वादा किया। विद्यासागरने नौकर होते ही सबसे पहले पिताको नौकरीके बन्धन से मुक्त किया। इसी से जाना जा सकता है कि वे कितने बड़े पितृ-भक्त थे।

कालेज की नौकरीके साथ ही विद्यासागरजी को अंग्रेजी पढ़ना भी शुरू करना पड़ा। प्रथम अपने दुर्गाचरण वनर्जी आदि मित्रों से कुछ सीखा। इसके बाद एक युवकको १५) महीना देकर अंग्रेजी तथा १०) महीना देकर हिन्दी सीखनेके लिये दो शिक्षक रखे। थोड़े ही दिनोंमें अंग्रेजी और हिन्दीमें खासी योग्यता हो गई।

विद्यासागरजी सन् १८४६ में संस्कृत कालेजके सहकारी सम्पादक पद पर नियुक्त हुए। कालेज की नौकरी करते कुछ दिन बाद कालेजकी कार्य्यप्रणाली के विषय में सेक्रेटरी महाशय से कुछ अनबन होगई। अपनी व्यवस्थामें उलट फेर होते देख कर स्वाधीनचेता और दृढ़प्रतिज्ञ ईश्वरचन्द्रने नौकरी छोड़ दी। इसपर बन्धु-बान्धवों और आत्मीय सज्जनोंने बहुत कुछ समझाया। किसी किसी ने खीझकर कहा कि नौकरी छोड़ दोगे तो खाओगे क्या? इसपर वीर विद्यासागरने कहा कि शाक बेचूंगा, मोदीकी

दूकान करूंगा, किन्तु जिस नौकरी में सम्मान नहीं उसे नहीं करूंगा।" स्वाधीन चित्तताका इससे बढ़कर उज्ज्वल आदर्श क्या हो सकता है? इन दिनों विद्यासागर जी के मंझले भाई दीनबन्धुको जो ५०) रुपये मिलते थे उनसे कलकत्तेके घरका खर्च चलता था विद्यासगरजीको पिता आदिकी सहायताके लिये प्रतिमास ५०) रुपये ऋण लेने पड़ते थे। इस अवसरमें विद्यासागर जीने कई ग्रन्थ भी लिखे। इन्हीं दिनों अपने एक मित्र अंग्रेज को संस्कृत बंगला और हिन्दी सिखलाई। शिक्षा समाप्त होनेपर अंग्रेज मित्र विद्यासागर को ५०) मासिक देना चाहते थे। किन्तु ऐसे आर्थिक अभाव के समय में भी निर्लोभ ब्राह्मण विद्यासागरने मित्रसे वेतन लेना स्वीकार नहीं किया।

नौकरी छोड़नेके बाद सन १८४९ ई० तक विद्यासागरने कहीं कोई नौकरी नहीं की। इस बीचमें फोर्टविलियम कालेजमें हेड राइटर का पद खाली होनेपर मार्शल साहबके विशेष अनुरोध करने पर विद्यासागरजीको यह पद स्वीकार करना पड़ा; किन्तु बहुत दिनों तक इस पद पर नहीं रहे।

सन् १८५१ के प्रारम्भमेंही संस्कृत कालेजके मंत्री और सहकारी मन्त्रीका पद जोड़ कर १५०) रुपये वेतनका एकही पद कर दिया गया। इस पद पर विद्यासागर नियुक्त हुए। इस पद पर नियुक्त होनेके साथ ही साथ विद्यासागर की अपनी भारी जिम्मेदारीका खयाल हुआ।

इस पद पर नियुक्त होकर विद्यासागरजीने सहसा एक बड़े भारी आन्दोलन में हाथ डाला।

संस्कृत-कालेजमें उस समय तक केवल ब्राह्मण और वैद्योंके लड़के ही शिक्षा पाते थे। विद्यासागरजीने प्रस्ताव किया कि

"हिन्दु-मात्रके लड़कों को संस्कृत पढ़ाई जावे।" कलकत्ते और अन्यान्य स्थानों के अध्यापक लोग इस कार्य्य से धर्म्मनाश की आशंका करके इस प्रस्ताव पर राजी नहीं हुए। इतना ही नहीं बल्कि जोर शोरे से विद्यासागर का विरोध करने लगे। किन्तु विद्यासागरजी जो कार्य्य उठाते उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। विद्यासागरजीने पण्डितोंसे पूछा कि अगर शूद्रादि नीच जातिके लड़कोंको आप संस्कृत पढ़ाना नहीं चाहते तो साहब लोगोंको वेतन लेकर संस्कृत पढ़ाना कौनसा धर्म्म है। इसप्रकार और अनेक प्रबल युक्तियोंसे पण्डितों को परास्त किया। उसी समय से संस्कृतकालेज में सब जातियों के लड़के लिये जाने लगे।

विद्यासागर जब कालेज के अध्यक्ष हुए तब डाइरेक्टर के अनुरोधसे उन्होंने कालेज की सर्वाङ्गीन उन्नतिके सम्बन्धमें एक रिपोर्ट लिखी। उसे देखकर डाइरेक्टर साहबने गवर्मेन्ट से अनुरोध करके विद्यासागरजीका वेतन १५०) से ३००) करा दिया और विद्यासागरजीकी सम्मति के अनुसार कालेज की उन्नति भी की। विद्यासागरजीने अपनी रिपोर्टमें यह भी प्रस्ताव किया था कि बङ्गाल के भिन्न भिन्न स्थानोंमें स्कूल खोले जावें और उनमें पढ़ाने वाले मास्टर तैयार करने के लिये नार्मल-स्कूल स्थापित हों। इस प्रस्तावके अनुसार १८५५ में २००) रु० वेतन देकर विद्यासागर ही अतिरिक्त इन्सपेक्टर बनाये गये। इसप्रकार सब मिलकर विद्यासागरको हर महीने ५००) रु० मिलने लगे। इसप्रकार उच्चस्थान प्राप्त कर रातदिन देशमें विद्या प्रचार के साधन सोचते हुए विद्यासागरजी अपने कर्त्तव्यका पालन करने लगे।

इसी समय विद्यासागर के परम मित्र और शिक्षाकमेटीके मन्त्री मैट साहब ने कुछ समयके लिए छुट्टी ले इंगलैंड चले गये। इस पद पर डब्लू गार्डन यंग नामक एक युवक सिविलियन को नियुक्त किया गया। इस पर तत्कालीन छोटे लाट सुप्रसिद्ध हालिडे साहब से विद्यासागर जीने किसी:बुद्धिमान बृद्ध पण्डित को रखनेकी सलाह दी थी। माननीय हालिडे साहबने इसके उत्तर में कहा कि मैं खुदही सबकाम देखूंगा; मिस्टर यंग केवल उप-लक्ष-मात्र है। किन्तु विद्यासागर ने जो आशंका करके उक्त पद पर एक बृद्ध पण्डित के रखने की सलाह दी थी वही बात आगे आई। विद्यासागर जी ऐसी समझदारी से काम करते थे कि कोई त्रुटि रहना एक प्रकार से असंभव ही था। तथापि मामूली। मामूली बातोंपर विद्यासागर और डाइरेक्टर यंग साहब में अनबन हो ही जाती थी। दोनों के मामले जब छोटे लाटसाहब के पास जाते थे तब लाट साहब प्रायः विद्यासागरके सुविचार-संगत मतका ही अनुमोदन करते थे।

जब विद्यासागरजी स्पेशल इन्सपेक्टर हो गये तब वह अनेक स्थानोंमें मिडल स्कूल और बालिका विद्यालय छोटे लाट साहबकी मौखिक सलाह से स्थापित करने लगे। उस समय शिक्षा-प्रचार के काम में इंगलेंडके संचालकोंकी विशेष सहानुभूति रहने के कारण विद्यासागर की जीत होती थी! किन्तु एकाएक इंगलेंड की मन्त्री सभा बदलने के साथही भारतवर्षीय शिक्षाकी नीति भी बदल गई। छोटे लाटके जबानी हुक्म से विद्यासागरने कई जिलोंमें बहुतसे कन्या विद्यालय स्थापित किये थे। इन विद्या-लयोंमें बहुत रुपया खर्च होता था। डाईरेक्टर यंग साहबने इन स्कूलोंके खर्चका बिल नई नीतिके अनुसार नामंजूर कर दिया। डाईरेक्टर साहब को यही एक ऐसा सुयोग हाथ लगा कि वह

विद्यासागरको कष्ट और हानि पहुंचा सके। इन दिनों यंग साहब और विद्यासागरजी में बड़ा मत भेद और मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया था।

१८५६ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी स्थापित होनेका प्रस्ताव हुआ। लार्ड डालहौसी ने इस कार्य्यकी तैयारी करके पेन्शन लेली। लार्ड कैनिंग के समयके आरम्भ में सन १८५७ के जनवरी महीने में यूनिवर्सिटी का यथार्थ सूत्रपात हुआ। सदस्योंमें विद्यासागर महाशय भी थे।

यूनिवर्सिटी संगठन होनेके बाद उसके किसी अधिवेशन में शिक्षा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की आलोचनायें होते होते संस्कृत कालेज उठा देनेका प्रस्ताव किया गया। बहुतसे अंगरेज और बंगालियोंने इस प्रस्तावका अनुमोदन किया; परन्तु अकेले विद्यासागरने अनेक युक्तियों और तर्कोंके सहारे सबके मुंह बन्द कर दिये। उन्हींके प्रयत्न से संस्कृत-कालेज इस समय भी मौजूद है और विद्यासागर की गौरव की घोषणा करता हुआ संस्कृतका प्रचार कर रहा है।

नौकरीका त्याग।

एकबार विद्यासागरने स्कूलोंके कार्य की रिपोर्ट पेश की। डाइरेक्टर यंग साहबने कहा कि "इस रिपोर्ट को अच्छी तरह बना चुना कर लिखो" इसका मतलब यह था कि रिपोर्ट इस ढंग से लिखो कि ऊपर के अफसर लोग समझे कि काम बहुत अच्छा हो रहा है। उन्नत विचार वाले और न्यायपरायण विद्यासागर महाशयने साहब के इस कथन से अपने को अपमानित समझा और रिपोर्ट में एक अक्षरका भी हेरफेर करनेको राजी नहीं हुए। बहुत कहने सुनने पर नौकरी छोड़ देने की इच्छा प्रकट की।

तत्काल ही अर्थात् सन १८५७ के अगस्त मास में ही डाइरेक्टर यंग साहब एवं छोटे लाट फ्रेड, जे, हालिडे साहबको सूचना दे दी कि "मैं जनवरी से नौकरी छोड़नेका पक्का इरादा कर चुका हूं। और यह भी लिखा कि "आपको इतना दिन पहले से अपनी यह इच्छा जनानेका मतलब यह है कि मेरे नौकरी छोड़ने पर जो जगह खाली होगी उसपर किसी अच्छे आदमी को रखने के लिये आप अच्छी तरह विचार कर सकें।

इसके बाद सन १८५७ की ३१ वीं अगस्त को पत्र लिख हालिडे साहबने विद्यासागरजी को अपने पास बुलाया और समझाया तथा मीठो बातोंसे सन्तुष्ट करके और एक साल तक विद्यासागरजी को उनके पद पर बनाये रक्खा। किन्तु जब यंग साहब उनसे हुकूमत का वर्त्ताव करके मनोमालिन्य का परिचय देने लगे। तब नौकरी छोड़नेका विचार विद्यासागरने पक्का कर लिया। अन्तको सन १८५८ के अगष्ट महीने में विद्यासागरजीने नौकरी छोड़ही दी। छोटे लाटके बहुत कहने पर भी नहीं माना। इसे देखकर पाठक समझ सकेंगे कि साधारण अपमान और नीचता न स्वीकार करके ५००) रु० महीने को नौकरी छोड़ देनेवाले विद्यासागर कैसे उच्च कोटि के पुरुष थे।

साहित्यसेवा।

विद्यासागरके पहले बंगला-साहित्य "साहित्य" नामके योग्य ही न था। साहित्यका कार्य्य विद्यासागर कालेज की नौकरी करते हुए भी करते थे। अनेक पाठ्य पुस्तकें उन्होने प्रकाशित की थी। किन्तु नौकरी से पृथक होकर विशेष रूपसे साहित्य सेवामें लगे।

विद्यासागरने सब मिलाकर ५२ ग्रन्थ लिखे। उनमें १७

संस्कृतके ५ अंगरेजीके शेष बंग भाषा के ग्रन्थ है। जिनमें १४ स्कूली किताबें तथा बाकी साहित्य तथा समाज सुधार सम्बन्धी पुस्तकें हैं।

स्त्री शिक्षाका कार्य्य।

१८२० ईस्वीसे पहले ही बंगालमें स्त्री शिक्षाका कार्य्य आरम्भ हो चुका था। कुछ कुछ कन्यायें पढ़ लेती थीं; किन्तु भारत हितैषी जे० ई० डी० बेथून साहबके उद्योगसे सन् १८४८ से स्त्री शिक्षाका प्रचार विशेष रूपसे आरम्भ हुआ समझना चाहिये।

पहले कहा जा चुका है कि, छोटेलाट हालिडे साहब की जबानी आज्ञासे विद्यासागर महोदयने मेदिनीपुर, वर्द्वान, हुगली और नदिया जिलोंके अनेक स्थानोंमें करीब ५० बालिका-विद्यालय स्थापित किये थे।

बालिका-विद्यालय-संबन्धी खर्चेका बिल मंजूर न होनेपर छोटे लाटने विद्‌यासागर को अपने ऊपर नालिश करनेकी सलाह दी थी। किन्तु विद्‌यासागरने कहा कि "मैंने कभी किसीके ऊपर नालिस नहीं की। फिर आप मित्र पर कैसे नालिश करूं? इस रुपये को मै कर्ज लेकर अदा कर दूंगा। महात्मा विद्‌यासागर इस चेष्टामें लगे रहे कि ये लड़कियोंके स्कूल बंद न होने पावें। इस काममें उनके कुछ अंगरेज मित्र मासिक सहायता दिया करते थे।

बेथून साहबसे भी विद्‌यासागरका विशेष मित्रताका रास्ता था। बेथूनने विद्‌यालय स्थापित करके उसके प्रबन्धका भार विद्‌या-सागरको सौंपा। विद्‌यासागरजीने मित्रके अनुरोधसे विद्‌यालय की देखरेख और उन्नति करनेका काम स्वीकार कर लिया। और आजन्म निभाया।

समाज संस्कार और विधवा-विवाह।

विद्यासागर महाशय के समय देशमें बाल, वृद्ध और बहु विवाहकी प्रथा जोरों पर थी। वृद्ध-विवाहका दुःखदायक परिणाम स्वयं विद्यासागरजी अपने गुरु शम्भुचन्द्र वाचस्पतिके विवाह समय देख चुके थे। उसी समयसे उनके हृदय में अबलाओंके दुःख दूर करनेका विचार अंकित हो चुका था।

विद्यासागरने जिस समय यह प्रश्न उठाया था कि विधवाका विवाह होना चाहिये या नहीं, उस समय देशमें इस ओर से पण्डितोंके उदासीन रहनेपर भी साधारण गृहस्थ लोग अपनी बालिकाओंके विधवा होनेपर उसकी भावी यन्त्रणा और दुर्दशाका ख्याल कर विधवा-विवाहकी आवश्यक्ताका अनुभव कर रहे थे। किन्तु साहसी और प्रतापी नेताके न होनेसे कोई इस कामके लिये अग्रसर न होता था।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने सबसे पहले शास्त्र-अवलोकन किया अपने प्रमाण पक्षमें मिले प्रमाणोंके पुस्तक तैयार की सबसे प्रथम अपने पिता श्री ठाकुरदासको दिखाई तथा प्रकाशनकी आज्ञा मांगी, पिताने पुस्तक आद्योपान्त सुनी और अपनी सम्मती पुत्रको प्रकाशनके लिये देदी। फिर श्रध्येय माताकी सम्मती ली माताकी भी सम्मती अनुकुल मिलनेपर पुत्रका साहस खूब बढ़ गया और बड़ी दृढ़ताके साथ कार्य्य क्षेत्रमें आये।

तत्वबोधनी पत्रिकामें इस विषयपर विद्यासागरजीके लेख निकलने लगे। पहले लिखे पढ़े लोगोंमें और फिर सर्वसाधरणमें विधवा-विवाहके आन्दोलन और विद्यासागरकी विधवा-विवाह सम्बन्धी समर घोषणाका प्रचार हो गया।

विद्यासागर महाशयने विधवा-विवाहकी पुस्तक का प्रथम संस्करण निकलते ही एक सप्ताहके बीच २००० पुस्तकें बिक गई यह देख उत्साहित हो विद्यासागरजी ने दूसरी बार ३०००

छपवाई वह भी शीघ्र ही शेष हो गई। कहते हैं तृतियावृतीको १०००० पुस्तकें छपी यह देख विपक्षियोंने कोलाहल मचाना आरम्भ किया एक उत्तर पुस्तक प्रकाशितकी। पण्डित ईश्वर-चन्द्र विद्यासागरने वह पुस्तक देख शास्त्र रूपी जलधिको मथ कर पत्युत्तर सहित चौथी आवृति सम्वत् १९२६ में प्रकाशित की (जिसका अविकल अनुवाद यह प्रस्तुत पुस्तक है) इसके प्रकाशित होते ही पण्डितोंकी सारी पोल खुल गई। जनताको विधवा-विवाह सनातन शास्त्रानुकुल है इस बातका विश्वास हो चला। अनेक कुलीन ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्योंकी विधवा कन्याओंके विवाह होने लग गये। स्वयं विद्यासागर महोदयने अपने पुत्र नारायण चन्द्र बंद्योपाध्याय का बिवाह भी एक विधवा कन्याके साथ कराया तथा और सैकड़ो भद्र लोगोंके लड़कोंके विधवा कन्याओंके साथ विवाह कराया।

इतनाही नहीं विधवा के गर्भसे उत्पन पुत्र, वह स्वजात पुत्र कहला कर पैतृक सम्पतिका उत्तराधिकारी बने। इसलिये विशेष प्रयत्न करके अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियोंके प्रायः ३०००० महानुभावोंके हस्ताक्षर कराकर हिन्दू-विधवा-पूनर्विवाह एक्ट पास कराया उस एक्ट की नकल की प्रति भी इसी पुस्तकके अन्त भाग में "परिशिष्ठ" शिर्षकमें प्रकाशित कर दिया है।

भूल संशोधन।

वाचकवृन्द! पुस्तकमें कई स्थानोंपर असावधानीसे कुछ भूलें रह गई है जिनमेंसे निम्न स्थानोंको अवश्य ठीक कर लेवें पृष्ट १५१ से १६५ तक हेडिंगमें "पराशर संहिता केवल कलिके धर्मोंका निर्णय करती है" और पृष्ट १८१ से १८५ तक "पराशर संहितामें चारों युगोंका धर्मोपदेश होना प्रमाणित नहीं होता"

"प्रकाशक"

अनुवादककी भूमिका।

वर्त्तमानमें समाज सुधारके क्षेत्रमें विधवाओंकी समस्या भारतवर्षवासी आर्य जातिके लिये बड़ा विकट रूपसे उपस्थित हो गयो है। इसकी दशापर विचार करके रोमांञ्च होता है। बड़े बड़े सुधारक आये परन्तु जब हिन्दू शास्त्रोंका बन्धन उनके मुखपर रहता है तो वे बड़ेसे बड़ा सुधार भी खुले मुख कहनेमें संकोच करते हैं। इसका कारण उनकी हृदयकी दुर्बलता है जात बिरादरी या लोकापवादसे वे अपने मुखसे उन सुधारोंकी आज्ञा नहीं देते और यदि कोई भी महानुभाव सुधारोंके करनेके लिये कमर भी कसते हैं तो उनके सामने जनताके धार्मिक अगुए पोथी पत्रा अभिमानी पण्डित लोग शास्त्रोंका पौथन्ना धर्म, सनातन धर्म आदिकी दुहाई लगाकर उन सुधारकोंके सामने भारी अड़चन लगाते हैं। सुधारकोंमें इतना बल तो नहीं होता कि शास्त्रोंकी भी व्यवस्था करें इसलिये या तो वे दोहरी बात बनाते हैं या शास्त्रोंको सर्वथा त्याग देते हैं। ऐसे वीर बहुत कम होते हैं जो सब क्षेत्रमें विजय करके अपने सुधारोंको जनतामें प्रबल रूपसे चला दें। ऐसे दुर्द्धर्ष वीरोंमें हमें स्त्री संसारके सुधार क्षेत्रमें दोही वीर नेताओंके नाम दीखते है एक तो पूज्य पाद श्री १०८ महर्षि दयानन्द सरस्वती दूसरे बंगालके प्रसिद्ध विद्वान स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर।

महर्षि स्वामी दयानन्दने अपने सुधारको परिमित नहीं रखा। उन्होंने सर्वत्र गड़बड़ देखी। और सब कार्योंमें सुधार किया। विधवाओंके विषयमें अर्थात् भारतवर्षके उस विधवा संसारके लिये जिनको सरकारी रिपोर्ट और नामके सनातनी संसार विधवाएँ पुकारता है यही व्यस्थाकी है कि अक्षतयोनि विधवा पुनः विवाह कर सकती है। इससे १ वर्षसे १६ वर्षकी अवस्थाके बीचमें जिनका पतियोंसे वियोग हो गया है उनके लिये पुनः वि-

वाहकी व्यवस्था महर्षिने स्वयं की और उससे ऊपर वालोंके लिये नियोगकी मर्यादा उसी प्रकार रखी है जिस प्रकार प्राचीन कालमें वैदिक कालसे महाभारत कालतक चली आती रही ।

स्वर्गीय पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने बंगालमें प्रथम २ विधवा विवाह की आवाज उठायी और समस्त बंगालको सचेत कर दिया कि बंगालका स्त्री संसार किस पाप प्रवाहमें बह रहा है ।

जिस पुस्तकने बंगालमें क्रान्ति करदी, सरकारी लौ बुकमें १८५६ का विधवा विवाह कानून बनाया गया यह वही पुस्तक है । इसको आदिसे अन्त तक पढ़कर शास्त्रकी सच्ची बातें विदित होती हैं और केवल ऊपरके सुने सुनाये प्रवादों और श्लोकके अंशोंपर धर्मशास्त्र आदिकी दुहाई देनेवाले पोपले शंखों-का खोखलापन इस पुस्तकके पढ़नेसे साफ दीखता है ।

हमें पूरा विश्वास है जिस आदर और श्रद्धासे बंग संसारने स्वर्गीय श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके इस महान उपकारको शिरोधार्य समझ इसका आदर किया है हिन्दी भाषी संसार भी उस महान आत्माका उतना ही या उससे भी अधिक आदर करेगा और तभी मैं इस प्रयत्नको सफल समझूंगा जब व्यर्थ वादको एक ओर रखकर भारतके शिक्षित लोग विधवोद्धारके कार्योंमें अग्रसर होंगे । हमें आशा है कि शीघ्रही वह समय आवेगा जब कि लक्षों नवयुवति विधवाएं विधर्मी गो भक्षकोंके हाथमें या वेश्या-वृत्तिमें या जात बिरादरीके अमानुष अत्याचारों या अस्वाभाविक अनुत्पादक बन्धनोंमें नष्ट न हो कर सद्गृहस्थ धारण कर देश और जातिका बल बढ़ावेगी ।

कलकत्ता
६—५—१९२६

अनुवादक—
जयदेव शर्मा विद्यालंकार

ॐ

प्रथमावृत्तिकी भूमिका

प्रायः दो वर्ष पूर्व यह पुस्तक प्रकाशित हुआ था। जिस उद्देश्यसे यह पुस्तक प्रकाशित किया था उसे सफल हुआ ही कहना चाहिये। क्योंकि जिन भद्र पुरुषोंने सच्ची जिज्ञासासे विद्वेष और पक्षपातको छोड़कर इस पुस्तकको आदिसे अन्ततक पढ़ा है, कलियुगमें विधवा-विवाहकी शास्त्रानुकूलताके विषयमें उनमेंसे बहुतोंके संशय मिट गये हैं, और ब्राह्मण और कायस्थ जातिकी विधवाओंके विवाहतक होने शुरू हो गये हैं।

बहुतसे दूर देशके वासी पत्रों द्वारा या अपने अन्य परिचित मित्रों द्वारा अभीतक भी पुस्तक प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट किया करते हैं। इसी निमित्तसे पुनः इसको मुद्रित किया गया है। पहले जिस रूपमें मुद्रित हुआ था अब भी प्रायः उसी रूपमें मुद्रित किया है। केवल एक दो स्थान अस्पष्ट थे, उनको इसमें स्पष्ट कर दिया है। दो एक स्थान अति संक्षिप्त थे, उनको विस्तारसे लिख दिया है।

मैं पहली बार संक्षेपमें जो बातें निर्देश करना भूल गया था, दूसरी बारके संस्करणके अवसरपर सर्व शास्त्र विशारद श्रीयुत तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य्य महाशयने उसका विस्तार ठीक २ प्रकारसे कर दिया है।

मेरे पुस्तक लिखे जाने, प्रकाशित और प्रचारित होनेके कुछ दिन पहले कलकत्ता डिवीज़नके पटलडाङ्गाके निवासी श्रीयुत बाबू श्यामाचरणदासने अपनी कन्याका रण्डापा देखकर दुःखित होकर अपने मनही मन संकल्प किया कि यदि ब्राह्मण पण्डित लोग व्यवस्था दें तो मैं पुनः कन्याका विवाह कर दूं। तदनुसार उन्होंने यत्न करके विधवा-विवाहकी शास्त्रानुकूलता दर्शानेवाला एक व्यवस्थापत्र संग्रह किया। यह व्यवस्थापत्र

अविकल * मुद्रित किया गया और पुस्तकके साथही लगा दिया गया था। इसमें स्वर्गीय काशीनाथ तर्कालङ्कार, श्रीयुत भवशंकर विद्यारत्न रामतनु तर्कसिद्धान्त, ठाकुरदास चूड़ामणि, हरिनारायण तर्कसिद्धान्त, मुक्ताराम विद्यावागीश आदि कुछ एक ब्राह्मण पण्डितोंके हस्ताक्षर थे।

स्वर्गीय तर्कालङ्कार महाशय इस देशमें सबसे प्रधान स्मार्त्त (स्मृतिशास्त्रके ज्ञाता) थे। श्रीयुत भवशंकर विद्यारत्न और श्रीयुत रामतनु तर्कसिद्धान्त प्रधान स्मार्त्त गिने जाते थे। तर्क सिद्धान्त भट्टाचार्य मंगला निवासी दत्त बाबूलोगोंके वाटीके सभा-पण्डित थे। श्रीयुतठाकुरदास चूड़ामणि और श्रीयुत हरिनारा-यण तर्कसिद्धान्त इस देशके प्रसिद्ध पण्डित और श्रीयुतराजा कमलकृष्ण देवके सभासद् थे। श्रीयुत मुक्ताराम विद्यावागीश बहुज्ञ पण्डित कहे जाते थे। ये सुप्रसिद्ध श्रीयुत बाबू प्रसन्नकुमार ठाकुरके सभासद थे।

इन पण्डितोंने पहले ही क्या समझकर विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत कहकर व्यवस्थापत्रमें अपना २ हस्ताक्षर किया और इस समय क्या समझकर विधवा-विवाहको अशास्त्रीय कहकर विद्वे-षभाव दिखलाते हैं,इसका छुपा रहस्य मर्म ये ही लोग कह सकते हैं।

इस स्थानपर यही उल्लेख करना आवश्यक है कि श्रीबाबू श्यामाचरणदासकी संग्रहीत व्यवस्था, श्रीयुत मुक्ताराम विद्यावा-गीशकी अपनी बनायी हुई है और व्यवस्थापत्र भी विद्यावागीश

* यह व्यवस्थापत्र एक अंशमें अविकल है, ऐसी बात नहीं; परन्तु अक्षरांश-में भी अविकल है। व्यवस्था अथवा हस्ताक्षर जिस प्रकारके अक्षरोंमें लिखे गये हैं ठीक पूरी २ उसी रूपमें मुद्रित किये गये हैं। फलतः व्यवस्था-दायक भट्टाचार्य्य महाशयका अपना हस्ताक्षर नहीं ऐसा कहकर उसे टाल नहीं दिया जा सकता। अन्तमें जो उनके हस्ताक्षर पहचानते हैं वे समझ सकते हैं कि अमुक २ भट्टाचार्य्य महाशयने अपने हस्ताक्षर किये हैं।

महोदयका अपना लिखा हुआ ही है। कुछ दिन बाद जब इस व्यवस्थापत्रके ऊपर विवाद उठा उस समय भवशंकर विद्यारत्नने विधवा-विवाहके शास्त्रसम्मत होनेके पक्षकी रक्षा करनेके लिये नवद्वीपके प्रधान स्मार्त श्रीयुत तारानाथ विद्यारत्न भट्टाचार्य्यके साथ शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थमें विजयी होकर पुरस्कारमें एक जोड़ा शाल प्राप्त किया। एक सज्जनने परिश्रम करके व्यवस्था बनाई। और एक सज्जनने विरोधी पक्षवालोंसे विवाद करके इस व्यवस्थाकी प्रामाणिकताकी रक्षा की; किन्तु विस्मयकी बात यह है कि इस समय दोनों विधवा-विवाहको अशास्त्रीय कहकर विद्वेषभाव दिखा रहे हैं। श्रीयुत बाबू श्यामाचरणदास व्यवहारी पुरुष हैं, वे शास्त्रज्ञ नहीं हैं। उन्होंने श्रीयुत भवशंकर विद्यारत्न आदि पूर्वोक्त भट्टाचार्य महोदयोंको धर्मशास्त्रोंका ज्ञाता पण्डित जानकर उनके पास शास्त्रानुसार व्यवस्था प्राप्त करनेकी प्रार्थना की और उन्होंने भी उसी प्रार्थनाके अनुसार यह व्यवस्था दी थी। यदि विधवा-विवाहको वास्तवमें अशास्त्रीय कहना उनको ठीक जंचता था और केवल हल्दी नमकके लोभमें शास्त्रीय होनेकी व्यवस्था दी गयी थी तो उनसे वास्तविक भलाईके कामकी आशा ही नहीं। और यदि विधवा-विवाह वास्तविक शास्त्रसम्मत कर्म ठीक जंचता है और उसी बुद्धिसे उन्होंने व्यवस्था दी थी तो फिर इस अवसरपर विधवा-विवाहको अशास्त्रीय कहकर उस विषयमें विद्वेष दिखलाना भी भले मानुषपनका कार्य नहीं है।

जो हो आक्षेपका विषय यह ही है कि जिनकी ऐसी चाल हैं वे महापुरुष ही इस देशमें धर्मशास्त्रोंके विवेचक हैं। और उनके वाक्योंमें व्यवस्थाकी टेक बांधकर इस देशके लोगोंको चलना पड़ता है।

कलकत्ता, संस्कृत कालेज,
१ म आश्विन, सं० १९१८

ईश्वरचन्द्र शर्मा

व्यवस्था पत्र

श्री श्री दुर्गा

परम पूजनीय श्रीयुत धर्मशास्त्राध्यापक-महाशयगणसमीपेषु ।

प्रश्न—नवशाख जातिके किसी पुरुष की एक कन्या विवाहित होकर आठवें या नवें वर्षकी अवस्थामें विधवा हो गयी। वह महाशय अपनी कन्याको दुष्कर विधवा-धर्म ब्रह्मचर्य आदि पालन करनेमें असमर्थ देखकर फिर किसी योग्य वरके साथ विवाह करके कन्यादान देना चाहते थे। इस स्थानपर यही संदेह है कि ब्रह्मचर्य पालनमें असमर्थ विधवाका पुनः विवाह शास्त्र-सिद्ध हो सकता है कि नहीं और पुनर्विवाहके बाद वह बालिका दूसरे पतिकी शास्त्रानुसार स्त्री होगी कि नहीं, इस विषयमें शास्त्रके अनुकूल व्यवस्था देनेकी आज्ञा है।

उत्तरम्—मन्वादिशास्त्रेषु नारीणां पतिमरणानन्तरं ब्रह्मचर्य सहमरणपुनर्भवनानामुत्तरोत्तराऽपकर्षेण विधवाधर्मतया विहितत्वात् ब्रह्मचर्यसहमरणरूपऽकल्पद्वयेऽसमर्थाया अक्षतयोन्याः क्षुद्रजातीयमृतभर्तृकबालायाः पात्रान्तरेण सह पुनर्विवाहपुनर्भवनरूपविधवाधर्मत्वेन शास्त्रसिद्ध एव यथाविधिसंस्कृतायाश्च तस्या द्वितीयभर्तृभार्यात्वं सुतरां शास्त्रसिद्धं भवतीति धर्मशास्त्रविदां विदाम्मतम्। अत्र प्रमाणम्। मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वेति शुद्धितत्वादिधृतविष्णुवचनम्।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥ इति॥
सा चेदक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा
पौनर्भवेन भार्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति। इति च मनुवचनम्।

सा स्त्री यद्यक्षत योनिः सत्यन्यमाश्रयेत् तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति इति कुल्लूकभट्टव्याख्यानम्। नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनरिति वचनन्तु :—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥

इति नियोगमुपक्रम्य लिखनान्नियोगाङ्गविवाहनिषेधपरं न सामान्यतो विधवा-विवाहनिषेधकमन्यथा पुनर्भवनप्रति पादक-वचनयोर्निर्विषयत्वापत्तिरिति "दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य चेत्युद्वाहतत्वधृतबृहन्नारदीयवचनं

देवरेण सुतोत्पत्ति र्दत्ता कन्या प्रदीयते।

इति तद्धृतादित्यपुराणीयवचनं च समयधर्मप्रति पादकतया न नित्यवदनुष्ठाननिषेधकम् सत्यामप्यत्र विप्रतिपत्तौ प्रकृतेऽ क्षतयोन्याः पुनर्विवाहस्य प्रस्तुतत्वात् देवरेण सुतो त्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः दत्तक्षताया कन्यायाः पुनर्दानं परस्य वै इति मदनपारिजातधृतवचनेन सह तयोरेकवाक्यत्वे ऽक्षतयोन्या बालायाः पुन र्विवाहं नतु प्रतिषेद्धुं शक्नुतः प्रत्युत क्षतयोन्या विवाहनिषेधकतया व्यतिरेकमुखेनाक्षतयोन्याः पुनर्विवाहमेव द्योतयत इति॥

जगन्नाथः शरणम्
श्रीकाशीनाथशर्मणाम्

श्रीविश्वेश्वरो जयति
श्रीमत् शंकरशर्मणाम्।

रामचन्द्रः शरणम्
श्रीमुक्तारामशर्मणाम्

श्रीहरि शरणम्
श्रीठाकुरदासशर्मणाम्

काशीनाथः शरणम्
श्रीमधुसूदनशर्मणाम्

श्रीरामः शरणम्
श्रीरामतनुदेव शर्मणाम्

श्रीरामः
श्रीठाकुरदास देव शर्मणाम्
श्रीहरि नारायण देव शर्मणाम्

श्रीशंकरो जयति
श्रीहरनाथ शर्मणाम्

व्यवस्था पत्रका अनुवाद

प्रश्न—नवशाख जातिके किसी पुरुषकी एक कन्या विवाहित होकर आठ या नव वर्षकी अवस्थामें विधवा हो गयी। उस व्यक्तिने अपनी कन्याको दुष्कर विधवा धर्मके पालन करनेमें असमर्थ देखकर पुनर्वार दूसरे पात्रको समर्पण करनेका संकल्प किया। इस स्थान पर यही प्रश्न होता है कि यदि जो विधवा ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानमें असमर्थ हो तो ऐसी विधवाका पुनर्वार विवाह शास्त्रसिद्ध हो सकता है कि नहीं? और पुनर्विवाहके बाद वह कन्या दूसरे पतिकी शास्त्र-सम्मत भार्या होगी कि नहीं इस विषयमें यथाशास्त्र लिखनेकी आज्ञा है।

उत्तर—मनु आदि, शास्त्रोंमें स्त्रियोंके पति गुज़र जानेपर ब्रह्मचर्य, सहमरण, अथवा पुनर्विवाहको विधवाओंका धर्म कह कर प्रतिपादन किया है। सुतरां, जो शूद्र जातीय अक्षतयोनि विधवा ब्रह्मचर्य या सहमरण, रूप दो प्रधान विकल्प अवलम्बन करनेमें असमर्थ हों, उनका अन्यपात्रके साथ विवाह अवश्य शास्त्रसिद्ध है और इस प्रकार शास्त्रके विधानके अनुसार विवाह संस्कार होनेपर वह स्त्री द्वितीय पतिको स्त्री समझी जाय यह भी शास्त्रसिद्ध है। धर्मशास्त्रोंके जाननेवाले पण्डित लोगोंका यही मत है।

इस विषयमें प्रमाण :—

मृतेभर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।

(शुद्धितत्व आदिमें उद्धृत विष्णुवचन)

पति वियोग हो जानेपर स्त्रियें या तो ब्रह्मचर्य पालन करें या पतिके साथ ही चितापर चढ़ जांय।

या पत्या वा परित्त्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ॥
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
सा चेदक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

(मनुवचन)

जो नारी पति द्वारा छोड़ी गयी हो, विधवा हो, और वह स्वयं अपनी इच्छासे 'पुनर्भू' हो अर्थात् पुनः अन्य व्यक्तिको विवाह कर ले उसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको पौनर्भव कहा जाता है। यदि वही स्त्री अक्षतयोनि अथवा गतप्रत्यागता हो अर्थात् पतिको परित्याग करके अन्य पुरुषका आश्रय लेले और फिर पतिके गृहमें आजाय उसका भी पुनः विवाह संस्कार हो सकता है।

सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत् तदा तेन पौनर्भवेन
भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति।

(कुल्लूकभट्टव्याख्या)

वही स्त्री यदि अक्षत योनि होकर अन्य पुरुषको आश्रय कर ले उसीसे उस द्वितीय पतिके साथ उस स्त्रीका पुनर्विवाह संस्कार हो सकता है।

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥

(मनुवचनम्)

विवाह संस्कारके मन्त्रोंमें किसी स्थानपर भी नियोगका उल्लेख नहीं है। इस प्रकार विवाहपद्धतिके बीचमें विधवाके विवाहका भी उल्लेख नहीं है।

इस वचन द्वारा नियोगका अंगस्वरूप जो विवाह है उसका ही निषेध है। कारण, नियोगका प्रकरण आरम्भ करके इस वचनका उल्लेख किया गया है। यह सामान्य रूपसे विधवा-विवाहका निषेधक नहीं है। यदि इसको विधवा विवाहका निषेधक कहा जाय, तब तो जिन दोनों वचनोंमें स्त्रियोंके पुनर्विवाहकी विधि है, उनके लिये कोई अवसर (स्थान) ही नहीं रहेगा।

दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥

(उद्वाहतत्वधृतबृहन्नारदीय)

अर्थात् दत्ता कन्याको भी योग्य पात्रमें पुनः दान किया जाता है।

देवरेण सुतोत्पत्ति र्दत्ता कन्या प्रदीयते ।

(उद्वाहतत्वधृतादित्यपुराण वचन)

अर्थात् देवरसे पुत्रोत्पत्ति करना और दत्ता कन्याका दान दिया जाय।

ये दोनों वचन समय धर्मके बोधक हैं, एकबार ही विधवा निषेधके बोधक नहीं है। यद्यपि इस प्रकारके विचारमें भी आपत्ति है तथापि मदन पारिजातमें यह वचन उल्लिखित है।

देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः ।

"दत्तद्वातायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य वै ॥

"देवर द्वारा पुत्रका उत्पन्न करना, वानप्रस्थाश्रमका ग्रहण, विवाहिता क्षतयोनि कन्याका अन्य पात्रमें पुनर्दान करना।"

इन वचनोंके साथ एकवाक्यता करनेसे ये दो वचन भी अक्षतयोनि कन्याके पुनर्विवाह निवारण करनेमें समर्थ नहीं हैं; बल्कि मदनपारिजातमें लिखे वचनसे क्षतयोनि विधवाका निषेध होनेसे अक्षतयोनिका पुनः विवाह होना प्रतीत होता है।

तृतीयावृत्तिकी भूमिका

विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं इस विषयमें ढाकाकी तरफ विशेष आन्दोलन हो रहा है। इस कारण वहाँ अनेक पुस्तकोंकी विशेष मांग पैदा हो गयी है। द्वितीय बारकी छपी सब पुस्तकें समाप्त हो गयी थीं इसी कारण पुनः मुद्रित कराया गया। पहली बार इस देशके कुछ एक प्रसिद्ध पण्डितोंके अपने हस्ताक्षरों सहित एक व्यवस्था पत्र पूरा २ अविकल मुद्रित हुआ था। इस बार उसको अनावश्यक समझकर अविकल रूपमें पुनः मुद्रित नहीं किया गया।

कलकत्ता
१५ जेष्ठ, संवत् १९१८ } श्रीईश्वरचन्द्र शर्मा



चतुर्थ आवृत्तिकी भूमिका

यह पुस्तक चौथी बार मुद्रित हुई। इस बार नया विज्ञापन लगानेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं था; परन्तु किसी विशेष कारणवश कुछ अपने बन्धुओंके अनुरोधसे विज्ञापनके स्थानपर कुछ कहना आवश्यक हुआ। यह विशेष कारण नीचे लिखा जाता है।

(२) किसी विशेष स्थलपर स्पष्ट वाक्यमें विशेष स्थलमें कौशलक्रममें यह बात प्रकट की है कि विद्यासागरने इस पुस्तकको बनाया मात्र है। जो युक्ति और प्रमाण आदि दिखाये गये हैं वह सब किसी अन्यने संग्रह किये हैं। अर्थात् वे स्वयं सब युक्तियोंको उठा नहीं सकते थे और अमुक २ ग्रन्थसे उन सब प्रमाणोंको संग्रह कर नहीं सकते थे। इन दोनों बातोंमें वे हमारी या अन्यकी सहायतासे सफल हुए इत्यादि। यही सब बात सुनकर हमारे कतिपय बन्धु बहुत असन्तुष्ट हैं और अत्यन्त अधिक अनुरोधसे वे यह आग्रह करते हैं कि जब पुस्तक पुनःबार मुद्रित हो इस समय संकलनके विषयमें जिस महानुभावकी जो सहायता प्राप्त की हो उसको विशेष रूपसे दर्शा दिया जाय। ऐसा करनेसे किसीका कोई असन्तोषका कारण नहीं रह जायगा।

(३) इससे पूर्व सामान्य तौरसे मैंने निर्देश किया था कि द्वितीय बार संकलन करते समय श्रीयुत तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य्य महाशयने यथेष्ट सहायता दी थी। किन्तु असावधानीके कारण अन्यान्य महाशयोंकी दी सहायताओंके विषयमें कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि यह असावधानता हर प्रकारसे अवैध और दोष जनक ही हुई। इसी कारण इस स्थानपर प्राप्त हुई सहायताओंका

सविस्तर परिचय देनेसे न केवल पूर्वोक्त बन्धुगणके अनुरोधकी रक्षा ही हो जायगी ; बल्कि कर्त्तव्य कर्मके अनुष्ठानमें आनेवाले विघ्नोंका भी पूरी तरहसे परिहार हो जायगा।

(४) कलकत्ता राजकीय संस्कृत विद्यालयके धर्मशास्त्रके भूतपूर्व अध्यापक सुप्रसिद्ध श्रीयुत भरतचन्द्र शिरोमणि महाशय-ने हमारी प्रार्थनाके अनुसार निम्नलिखित प्रमाण खोजकर दिये थे।

(१) यत्तु माधव :—यस्तुवाजसनेयीस्यात्तस्य सन्धिदिनात् पुरा। नक्काप्यन्वाहितिः किन्तु सदा सन्धिदिने हि सा। इत्याह तत् कर्कभाष्यदेवयानीश्रीअनन्तभाष्यादिसकलतच्छाखीयग्रन्थविरोधाद्बहुव-नादराच्चोपेक्ष्यम्।

(२) माधवस्तु सामान्य वाक्यनिर्णयं कुर्वन् भ्रान्त एव।

(३) कृष्णापूर्वोत्तरा शुक्ला दशम्येवं व्यवस्थितेति माधवः। वस्तुतस्तु मुख्या नवमी युतेव ग्राह्या दशमी तु प्रकर्त्तव्या सदुर्गाद्विज सत्तमेत्यापस्तम्बोक्तेः॥

(४) ननु मासि चाश्वयुजे शुक्ले नवरात्रे विशेषतः। सम्पू-ज्य नवदुर्गा च नक्तं कुर्यात् समाहितः। नवरात्राभिधं कर्म नक्तव्रत-मिदं स्मृतम्॥

(५) अत्र यामत्रयादर्वाक् चतुर्दशीसमाप्तौ तदन्ते तदूर्ध्वगा-मिन्यां तु प्रातस्तिथिमध्य एवेति हेमाद्रिमाधवादयो व्यवस्थामाऽहुः तन्न तिथ्यन्ते तिथिभान्ते वा पारणं यत्र चोदितम्। यामत्रयोर्ध्व गामिन्यां प्रातरेव हि पारणेत्यादिसामान्यवचनैरेवेत्यनवस्थासिद्धे रुभय-विधवाक्यवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वात्॥

(६) न च यदि प्रथमनिशायाभेकतरवियोगस्तदापि ब्रह्म-वैवर्त्तादि वचनाद्दिवापारणमनन्तभट्टमाधवाचार्योक्तं युक्तमिति वाच्यं न रात्रौपारणां कुर्यादृते वै रोहिणीव्रतात् । निशायां पारणां कुर्यात वर्जयित्वा महानिशामिति संवत्सरप्रदीपधृतस्य न रात्रौ पारणां कुर्यादृते वै रोहिणीव्रतात्। अत्र निश्यपि तत् कार्यं वर्जयित्त्वा महानि-शामिति ब्रह्माण्डोक्तस्य च निर्विषयत्वापत्तेः ॥

(५) उक्त विद्यालयके व्याकरण शास्त्रके अध्यापक सुप्रसिद्ध तारानाथतर्क वाचस्पति भट्टाचार्य महाशयने निम्न लिखित प्रमाण खोजकर दिये थे।

(१) नच कलिनिषिद्धस्यापि युगान्तरीय धर्मस्यैव नष्टे मृते इत्यादि पराशरवाक्यप्रतिपादकमिति वाच्यं कलावनुष्ठेयान् धर्मा-नेव वक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय तद्ग्रन्थप्रणयनात् ।

तर्क वाचस्पति महाशयने हमारे प्रयोजनोपयोगी जानकर विना प्रार्थना किये ही ये प्रमाण उद्धृत करके दिये थे।

(२) चकार मोहशास्त्राणि केशवः सशिवस्तथा। कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपाश्चमम् । पांचरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः ॥

(३) शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् । येषां श्रवण-मात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि । प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवपाशुपतादिकम् तथापि योंऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुद्धयते । सोंऽशः प्रमाणइत्युक्तः केषांचिदधिकारिणाम् ।

(४) श्रुतिभ्रष्टः स्मृतिप्रोक्तः प्रायाश्चित्तपराङ्मुखः क्रमेण श्रुति-

सिद्धार्थः ब्राह्मणस्तन्त्रमाश्रयेत् पाञ्चारत्रं भागवतं मन्त्रं वैखानसाभिधम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ।

(५) स्वागमैः कल्पितैस्तैस्तु जनान् मद्विमुखान कुरु । मांच गोपय येन स्यात्पष्टिरे पोत्तरोत्तरा ॥

इस पुस्तकके संकलन करनेके कुछ काल पूर्व उल्लिखित वचन मैंने किसी ग्रन्थमें देखे थे। किन्तु कौनसे ग्रन्थमें देखे थे यह मैं सहसा निश्चय न कर सका इस कारण तर्क वाचस्पति महाशयके पास प्रार्थना की और उन्होंने ये वचन निकाल निकाल कर दिये।

(५) स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथाभवेत् ।
तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिवाधे परित्यजेत् ।

हमारी प्रार्थनाके अनुसार तर्क वाचस्पति महाशयने यह वचन निकाल कर दिया था।

(६) उपरोक्त विद्यालयके सहकारी अध्यापक श्रीयुत गिरीश-चन्द्र विद्यारत्न भट्टाचार्यने हमारी प्रार्थनाके अनुसार आदि पुराण दो बार पाठ किया और पराशर भाष्यमें उद्धृत निम्न लिखित प्रमाण आदि पुराणमें नहीं है यह निर्णय कर दिया था। वह वाक्य यह है—

ऊढायाः पुनरुद्वाहः ज्येष्ठांशं गो वधस्तथा ।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमंडलूम् ॥

(७) उक्त विद्यालयके तत्कालीन विख्यात छात्र राय कमल भट्टाचार्य्य और श्रीयुत रामगति न्यायरत्नने हमारी प्रार्थनाके अनुसार कोई कोई ग्रन्थ पढ़कर विशेष विशेष प्रमाणकी सत्ताके होने या न होनेके विषयमें हमारा संशय दूर कर दिया था। सुशील सुबोध स्थिरमति रामगति विशेष रूपसे विद्योपार्जन

करके वर्त्तमानमें वह रामपुरके राजकीय विद्यालयमें संस्कृत भाषाका अध्यापन कार्य्य निर्वाह करते हैं राम कमल दुर्भाग्य वश हम सबको शोक सागरमें डुबा कर अकालमें कालका ग्रास हो गये । वह असाधारण बुद्धिमान् विद्यानुरागी और असाधारण सामर्थ्यवान् थे। दीर्घकाल तक जीवित रहते तो अनेक अंशोंमें बंगाल देशकी श्री-वृद्धिका साधन और बंगला भाषाके विस्तार उन्नति सम्पादन करते। इसमें सन्देह नहीं

प्रमाण संकलन करनेके विषयमें मैंने जिन महानुभावोंसे जो साहाय्य प्राप्त किया था, उसका विशेष रूपसे निदर्शन कर दिया। इस विषयमें इससे अतिरिक्त मैंने किसीसे कोई साहाय्य न लिया है और न पाया है। इस समस्त पुस्तकमें २१५ प्रमाण उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे, केवल १३ प्रमाण औरोंके हैं। ऊपर जिस प्रकार दर्शाया गया है तदनुसार औरोंके १३ प्रमाणोंके बीचमें ६ प्रमाण श्रीयुत भरत चन्द्रशिरोमणि भट्टाचार्य्य महाशयने और ७ प्रमाण श्रीयुत तारानाथ तर्क वाचस्पति भट्टाचार्य्य महाशयने निकाल कर दिये थे। और इस पुस्तकमें जो समस्त युक्तियां लिखी गयी हैं, वे समस्त मेरी ही निजी हैं। इस विषयमें औरोंकी सहायता लेनेकी तिलमात्र अवश्यकता नहीं पड़ी। इस समय जिन समस्त बन्धुओंके अनुरोधसे यह विज्ञापन लिखा गया है, उनका असन्तोषसे कलुषित चित्त प्रसन्न होते ही मैं निश्चिन्त हो जाऊंगा और कृत कृत्य होऊंगा।

कलकत्ता
संवत् १९२६
१मं जेठ

ईश्वरचन्द्र शर्मा

ॐ

विधवा विवाह

प्रचलित होना उचित है कि नहीं?

विशय प्रवेश

विधवा विवाहका चलन न होनेसे जो नाना प्रकारके अनर्थ हो रहे हैं वे अनेकोंको विशेष रूपसे प्रतीत होते हैं। अनेक लोग अपनी २ विधवा कन्या, बहिन आदिको पुन: वार विवाह देनेके लिये उद्यत हैं। अनेक लोग इतनी दूरतक जानेका साहस नहीं कर सकते। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि विधवा-विवाहकी रीतिका प्रचलित होना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है। विधवा-विवाह शास्त्रीय है कि नहीं इस विषयमें अबसे पूर्व इस देशके कुछ एक प्रधान पण्डितोंका विचार हुआ था; किन्तु दौर्भाग्य से आजकलके पण्डित दूसरोंको पराजय करनेकी इच्छाके वशमें होकर अपने २ मतकी रक्षामें इतने व्यग्र हैं कि प्रस्तावित विषयके तत्व निर्णय करनेपर दृष्टितक नहीं देते। फलतः पण्डित मण्डलीको एक स्थानपर बुलाकर विचार कराकर किसी विषय-का निगूढ़ तत्व जाना जा सकेगा, इसकी भी आशा करना व्यर्थ है। पण्डित लोगोंके पूर्वोक्त विषयमें भी दोनों पक्ष अपनेको विजयी और प्रतिपक्षीको पराजित स्थिर कर लेते हैं। फलतः इस विषयमें किस प्रकार तत्व निर्णय हुआ है इसका सभी अनायास अनुमान कर सकते हैं। वस्तुतः उल्लिखित विचार द्वारा उपस्थित विषयकी कुछ भी मीमांसा नहीं हुई, इस विचारसे यह एक बड़ा भारी फल दिखाई दिया है कि तबसे लेकर

अनेक लोग इस विषयमें निगूढ़ तत्व जाननेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो गये हैं। अनेक लोगोंकी इस उत्सुकताको देखकर मैं विशेष यत्नसे इस विषयमें तत्वानुसंधान करनेमें लग गया और लगकर भी कितनी दूरतक कृतकार्य होसका यह सर्वसाधारणको दर्शा देनेके लिये देशकी प्रचलित भाषामें लिखकर प्रचारित कर दिया। इस समय सब पक्षपात शून्य होकर इस पुस्तकको पढ़कर और विचार करके देखें कि विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं।

विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं? इस विषयपर विचार करते हुए सबसे पहले यही विवेचना करना अत्यावश्यक है कि इस देशमें विधवा-विवाहकी प्रथा प्रचलित नहीं है। फलतः विधवाको विवाहमें देना एक नयी प्रथा प्रचलित करना होगा; किन्तु यदि विधवा-विवाह कर्त्तव्य कर्म न हुआ तो भी किसी भी प्रकारसे उसका होना या चल पड़ना उचित नहीं। क्योंकि कौन धर्मात्मा पुरुष न करने योग्य काममें लगेगा। इसलिये विधवा-विवाह कर्त्तव्य कर्म है कि नहीं, प्रथम इसीकी मीमांसा करना अति आवश्यक है। यदि युक्ति मात्रका आश्रय लेकर इसको कर्त्तव्य कर्म कहकर स्थिर कर दिया जाय तो भी इस देशके लोग कभी भी इसको कर्त्तव्यकर्म कहना स्वीकार नहीं करेंगे। यदि शास्त्रमें कर्त्तव्य कर्म कहकर स्थिर कर भी दिया हो तो वे लोग भी उसको कर्त्तव्यकर्म कह सकते और तदनुसार चल सकते हैं। ऐसे विषयोंमें इस देशमें शास्त्र ही सबसे अधिक प्रमाण हैं और शास्त्र-सम्मत कर्म ही सब प्रकारसे कर्त्तव्य कर्म माना जाता है। अतएव विधवा-विवाह शास्त्रसम्मत है या शास्त्र-विरुद्ध इसीकी मीमांसा करना सबसे आगे आवश्यक है।

विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत है।

विधवा विवाह करना शास्त्र सम्मत है या शास्त्रविरुद्ध है इसकी मीमांसा करते हुए प्रथम हमें यह विचार करना आवश्यक है कि जिन शास्त्रोंके सम्मत होनेपर विधवा विवाह करने योग्य कर्म मान लिया जायगा या जिन शास्त्रोंके विरुद्ध होनेपर यह न करने योग्य कर्म सिद्ध होगा वे शास्त्र क्या हैं? व्याकरण, काव्य, दर्शन, आदि शास्त्र इस प्रकारके शास्त्र नहीं हैं। धर्मशास्त्र नामसे कहलानेवाले शास्त्रही सर्वत्र इस प्रकारकी बातोंके लिये शास्त्र माने जाते हैं। धर्मशास्त्र जिसको कहा जाता है इसका प्रतिपादन याज्ञवल्क्य संहितामें इस प्रकार है कि—

मन्वत्रिविष्णु हारीत याज्ञवल्क्यो शानोऽङ्गिरा: ?
यत्रायस्त्रम्वसंवर्त्त कात्यायन बृहस्पती ॥१।१।४॥
पराशर व्यासशंख लिखिता दक्ष गोतमौ ।
शाता तयो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्र प्रयोजका:

मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख-लिखित, दक्ष, गोतम, शातातप, वसिष्ठ, ये धर्मशास्त्रके कर्त्ता हैं।

इनके बनाये हुए शास्त्र ही धर्मशास्त्र हैं। इनके बनाये हुए धर्मशास्त्रोंमें जिन धर्मोंका निरूपण किया गया है भारतवर्षके वासी उन्हींको धर्म मानते चले आते हैं। फलतः इनहीं सब धर्म-शास्त्रोंके अनुकूल कर्म कर्त्तव्य कर्म हैं और इनहीं सब धर्म-शास्त्रोंके विरुद्ध कर्म अकर्त्तव्य कर्म है। इसलिये विधवा-विवाह धर्मशास्त्र सम्मत होने पर कर्त्तव्य कर्म मान लिया जायगा और धर्मशास्त्रके विरुद्ध होने पर अकर्त्तव्य कर्म माना जायगा।

भिन्न २ युगका भिन्न २ शास्त्र है

अब यहां यह विवेचन करना आवश्यक है कि इन सब धर्म-शास्त्रोंमें जो समस्त धर्म बतलाये गये हैं क्या सब युगोंमें यह सब धर्म करने योग्य माने जायँगे या नहीं। मनु धर्म-शास्त्रमें इस विषयको मीमांसा की गयी है। कि—

अन्ये कृतयुगे धर्मा स्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥

युगानुसार मनुष्यकी शक्तिका ह्रास हो जानेके कारण सत्य-युगके धर्म और हैं। त्रेता युगके धर्म और, द्वापर युगके धर्म और कलि युगके धर्म और हैं।

अर्थात् पूर्व २ युगके लोग जिन धर्मोंका पालन करते थे उत्तर २ युगके लोग उन सब धर्मोंका पालन करनेमें समर्थ नहीं हैं। इस कारण उत्तरोत्तर युगमें मनुष्यकी क्षमताका ह्रास होता जाता है। त्रेता युगके लोगोंमें सत्य युगके धर्म, द्वापर युगके लोगोमें सत्य अथवा त्रेता युगके धर्म पालन करने का सामर्थ्य नहीं है। कलि युगके लोगोंमें सत्य, त्रेता और द्वापर युगके धर्म पालन करनेका समर्थ्य नहीं है। फलतः यही निश्चित सिद्धान्त है कि कलि युगके लोग पूर्व युगोंके धर्मका पालन करनेमें समर्थ नहीं हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि कलियुगके लोगोंको कौनसा धर्म पालन करना चाहिये। मनुके धर्मशास्त्रमें भिन्न २ युगमें भिन्न २ धर्म होता है इसोकी सूचना मात्र है। अत्रि, विष्णु, हारीत, धर्मशास्त्रोंमें युगभेदसे धर्मभेदका निरूपण कहीं भी देखने में नहीं आता और इनके धर्मशास्त्रोंमें कुछ एक धर्मोंका वर्णन ही किया गया है। किन्तु युग २ में मनुष्यके सामर्थ्यका ह्रास होता जाता है इसलिये किस युगमें कौनसा धर्म अवलम्बन करना

चाहिये इसका निर्णय होना भी मुश्किल है। कौन २ युगमें कौन २ सा धर्म अवलम्बन करना चाहिये इस विषयमें पराशर धर्मशास्त्रमें यह सब बात लिखी गयी है। पराशर संहिताके प्रथम अध्यायमें लिखा है—

कृते तु मानवा धर्मा स्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः ।
द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशाराः स्मृताः ॥

सत्ययुगमें मनु प्रोक्त धर्म, त्रेता युगमें गोतम निरूपित धर्म, द्वापरयुगमें शंखलिखित धर्म और कलियुगमें पराशर निरूपित धर्म हैं।

अर्थात् भगवान स्वायम्भूव मनुने जिन धर्मोंका निरूपण किया है सत्ययुगके लोग उन्हीं धर्मोंका पालन किया करते थे। भगवान गोतमने जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया, त्रेता युगके लोग उन धर्मोंका पालन करते थे भगवान शंख और लिखितने जिन धर्मोंका निरूपण किया था द्वापरके लोग उन्हीं धर्मोंका पालन करते थे और भगवान पराशरने जिन धर्मोंका निरूपण किया है कलियुगके लोगोंको उन धर्मोंका ही पालन करना चाहिये। (*)

(*) इस स्थानपर यही आशंका उपस्थित हो सकती है कि यदि सत्ययुगमें केवल मनु प्रणीत धर्मशास्त्र, त्रेतायुगमें केवल गोतम प्रणीत धर्मशास्त्र, द्वापरयुगमें शंख और लिखित प्रणीत धर्मशास्त्र और कलियुगमें पराशर प्रणीत धर्मशास्त्र है तो अन्यान्य ऋषियोंके धर्मशास्त्र किस समयके लिये ग्राह्य होंगे। इसका उत्तर यही है कि क्रमानुसार मनु, गौतम, शंख-लिखित और पराशर प्रणीत धर्मशास्त्र सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगोंके शास्त्र हैं इन २ युगोंमेंसे ये शास्त्र ही प्रधान प्रमाण हैं और अन्यान्य धर्म शास्त्रोंका जो जो अंश इन २ प्रधान २ शास्त्रोंका विरोधी नहीं वह इस इस युगमें ग्रहण करने योग्य है।

अतएव साफ प्रतीत होता है कि भगवान पराशरने केवल कलियुगके लिये धर्म निरूपण किया है। कलियुगके लोगोंको पराशर निरूपित धर्म ही पालन करना चाहिये।

पराशर संहिताका जिस रूपसे आरम्भ हुआ है उसको देखनेसे ही इस बातमें संशय नहीं रहता कि पराशर संहिताका उद्देश्य ही कलियुगके धर्मोंका निरूपण करना हैं। जैसे—

अथातो हिमशैलाग्रे देवदारुवनालये ।
व्यासमेकाग्रमासीनमपृच्छन्नृषयः पुरा ॥
मानुषाणां हिते धर्मं वर्तमाने कलौ युगे ।
शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुत ॥
तत् श्रुत्वा ऋषिवाक्यं तु समिद्धाग्न्यर्कसन्निभः ।
प्रत्युवाच महातेजाः श्रुतिस्मृतिविशारदः ॥
न चाहं सर्वतत्वज्ञः कथं धर्मं वदाम्यहम् ।
अस्मत् पितैव प्रष्टव्य इति व्यासस्ततोऽवदत् ॥
ततस्ते ऋषयः सर्वे धर्मतत्वार्थकांक्षिणः ।
ऋषिं व्यासं पुरस्कृत्य गता वदरिकाश्रमम् ॥
नानावृक्षसमाकीर्णं फलपुष्पोपशोभितम् ।
नदीप्रस्रवणाकीर्णं पुण्यतीर्थैरलंकृतम् ।
मृगपक्षिगणाढ्यंच च देवतायतनावृतम् ॥
यक्षगन्धर्वसिद्धैश्च नृत्यगीतसमाकुलम् ।
तस्मिनृषि सभामध्ये शक्तिपुत्रं पराशरम् ॥
सुखासीनं महात्मानं मुनिमुख्यगणावृतम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा व्यासस्तु ऋषिभिः सह ॥

प्रदक्षिणाभिवादैश्च स्तुतिभिः समपूजयत् ।
अथ सन्तुष्टमनसा पराशरमहामुनिः ॥
आह सुस्वागतं ब्रूहीत्यासीनो मुनिपुंगवः ।
व्यासः सुस्वागतं ये च ऋषयश्च समन्ततः ॥
कुशलं कुशलेत्युक्त्वा व्यासः पृच्छत्यतःपरम् ।
यदि जानासि मे भक्तिं स्नेहाद्वा भक्तवत्सल ॥
धर्मं कथय मे तात अनुग्राह्योह्यहं तव ।
श्रुत्वा मे मानवा धर्मा वाशिष्ठाः काश्यपास्तथा ॥
गार्गीया गौतमाश्चैव तथाचौशनसाः स्मृताः ।
अत्रेर्विष्णोश्च सांवर्त्ता दात्ताः आंगिरसास्तथा ॥
शातातपाश्च हारीता याज्ञवल्क्यकृताश्च ये ।
आपस्तम्बकृता धर्माः शंखस्य लिखितस्य च ॥
श्रुत्वाह्येते भवत्प्रोक्ता श्रौतार्थास्ते न विस्मृताः ।
अस्मिन् मन्वन्तरे धर्मा कृतत्रेतादिके युगे ॥
सर्वे धर्माःकृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे ।
चातुर्वर्ण्यसदाचारं किञ्चित् साधारणं वद ॥
व्यासवाक्यावसाने तु मुनिमुख्यः पराशरः ।
धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात् ॥

पूर्वकालमें कुछ एक ऋषियोंने व्यासदेवसे प्रश्न किया—हे सत्यवतीनन्दन! कलियुगमें कौनसे धर्म और कौनसे आचार मनुष्यके हितकर हैं यह आप बतलाइये। व्यासदेव ऋषियोंका वाक्य श्रवण करके बोले—मैं समस्त विषयोंका तत्व नहीं

जानता, मैं धर्मका उपदेश किस प्रकार करूं। इस विषयमें तो आप लोगोंको मेरे पितासे ही प्रश्न करना चाहिये। तब ऋषिगण व्यासदेवके कथनानुसार पराशरके आश्रममें उपस्थित हुए। व्यासदेव और ऋषिगणने अञ्जलि बांधकर पराशरकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम और स्तुति की। महर्षिपराशरने प्रसन्न चित्त होकर उनका स्वागत किया और आनेका कारण पूछा। उन्होंने अपने कुशल मंगलका समाचार कहा। बाद व्यासदेव बोले—हे पिता जी! मैंने आपसे मनु आदिके कहे सत्य, त्रेता और द्वापर युगके धर्मोंका श्रवण किया था, मैंने जो श्रवण किया था वह भी भूला नहीं। सत्ययुगमें सब धर्म उत्पन्न हुए थे और कलियुगमें सब धर्म नष्ट हो गये। इसलिये चारों वर्णोंके साधारण धर्म कुछ कहिये। व्यासके वचन पूरा होनेपर महर्षि पराशरने विस्तृतरूपसे धर्म कहना प्रारम्भ किया।

पराशर संहिताके द्वितीय अध्यायके आरम्भमें कलि धर्म कथन करनेकी प्रतिज्ञा स्पष्ट दीख रही है। जैसे—

अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौयुगे।
धर्मं साधारणं शक्यं चातुर्वर्णाश्रमागतम्॥
संवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशरवचो यथा॥

इससे आगे गृहस्थोंके लिये कलियुगमें अनुष्ठान योग्य धर्म और आचारका वर्णन करूंगा। पहले पराशरने जिस प्रकारसे कहा उसीके अनुसार साधारण धर्म कहूंगा, अर्थात् लोकमें कलियुगमें जो धर्म सब अनुष्ठान कर सकेंगे वैसा धर्म कहूंगा। यह सब बात देखकर पराशर संहिता कलियुगका धर्मशास्त्र है इसमें विशेष और कोई आपत्ति अथवा संशय किया नहीं जा सकता।

पराशर प्रोक्त धर्म

अब यह निर्णय हो गया है कि पराशर संहिता कलियुगका धर्म-शास्त्र है इससे आगे यही अनुसंधान करना आवश्यक है कि विधवाओंके लिये पराशरसंहितामें कैसा धर्म निरूपण किया गया है। उक्त ग्रन्थके चौथे अध्यायमें लिखा है कि—

नष्टे मृते प्रब्राजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
सा मृते लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
तिस्रःकोट्योर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत् स्वर्गं भर्तारं याऽनुगच्छति ॥

स्वामी कहीं लापता हो गया हो, मर गया हो, संसार धर्मको छोड़ कर संन्यासी हो गया हो, निश्चय रूपसे नपुंसक हो, या जातिसे पतित हो गया हो तो इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियोंका पुनर्विवाह कर देना शास्त्र सम्मत है। जो नारी स्वामीकी मृत्यु होने पर ब्रह्मचर्यका पालन करती है वह देहान्त होनेके उपरान्त ब्रह्मचारियोंकी तरह स्वर्गका लाभ करती है। मनुष्य शरीरमें जो ३॥ करोड़ लोम हैं; जो नारी स्वामीके साथ ही चली जाती हैं वह उतने वर्षतकके समयमें स्वर्गमें वास करती हैं।

पराशरने कलियुगकी विधवाओंके लिये तीन विधान दिये हैं। (१) विवाह (२) ब्रह्मचर्य (३) सहगमन। उनमेंसे सरकारी आज्ञाके कारण सहगमनकी प्रथाका लोप ही हो गया है। अब विधवाओंके लिये दो ही मार्ग रह गये हैं; (१) विवाह और (२) ब्रह्मचर्य। इच्छा हो तो विवाह कर ले, इच्छा हो तो

ब्रह्मचर्य्य पालन करे। कलियुगमें ब्रह्मचर्य पालन करते हुए देह-यात्रा निर्वाह करना विधवाओंके लिये बहुत ही कठिन हो गया है। इसी कारण लोकहितैषी भगवान पराशरने सबसे पहले विवाहका ही विधान किया है, वह जो हो! स्वामीके कहीं लापता हो जाने आदि पांच प्रकारकी आपत्ति होने पर स्त्रियोंके लिये स्पष्ट विवाहकी आज्ञा होनेके कारण कलियुगमें उन २ अवस्थाओंमें पुनर्वार विवाह करना शास्त्र सम्मत कर्त्तव्य ही निर्णय किया गया है।

पुनर्विवाहित विधवाका पुत्र औरस

कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत है यह निर्णय हो गया है। अब यह विवेचना करनी आवश्यक है कि विधवाका पुनः विवाह करने पर उसके गर्भसे उत्पन्न हुए बालककी पौनर्भव संज्ञा होगी कि नहीं। पराशर संहितासे ही इस प्रकारकी बातका भी निर्णय हो गया है। पूर्व पूर्व युगोंमें १२ बारह प्रकारके पुत्रोंकी व्यवस्था है। परन्तु पराशरने कलियुगमें तीन प्रकारके ही पुत्रोंका विधान किया है। जैसे—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तःकृत्रिमकः सुतः ॥अ० ४ ॥

औरस, दत्तक और कृत्रिम ये तीन प्रकारके पुत्र होते हैं। (४)

---

(३) चतुर्थ अध्याय।

(४) इस वचनमें औरस, क्षेत्रज, दत्तक और कृत्रिम, इन ४ प्रकारके पुत्रोंका विधान दीख रहा है। किन्तु नन्द पण्डितने दत्तक मीमांसा ग्रन्थमें इसी वचनकी व्याख्या करके कलियुगके निमित्त औरस, दत्तक और कृत्रिम इन तीन प्रकारके पुत्रोंको ही माना है। मैंने भी उनके लेखानुसार ही इस वचनकी व्याख्या लिखी हैं।

दत्तपदंकृत्रिमस्याप्युपलक्षणम्। औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तःकृत्रिमकःसुत। इति कलिधर्मप्रस्तावे पराशरस्मरणाम्। न चैवक्षेत्रजोऽपिपुत्रः कलौस्यादितिवाच्य तत्रनियोग निषेधेनैवतन्निषेधात्। अस्तुतर्हिविहितप्रतिसिद्धत्वाद्विकल्पइति चेन्न

पराशरने कलियुगमें औरस, दत्तक और कृत्रिम इन तीन प्रकारके पुत्रोंका विधान किया है तब विवाहिता विधवाके गर्भसे हुए पुत्रको भी पुत्र स्वीकार करनेका विधान किया है। अब यह विवेचना करनी आवश्यक है कि इस पुत्रको औरस, दत्तक या कृत्रिम कहा जाना चाहिये। इस पुत्रको दत्तक अथवा कृत्रिम कहा नहीं जा सकता क्योंकि यदि परायेके पुत्रको शास्त्रके विधानके अनुसार पुत्र बनाया जाता है तब विधानकी विशेषताके अनुसार उसका नाम दत्तक अथवा कृत्रिम हो जाता है। किन्तु विवाहिता विधवाके गर्भमें स्वयं उत्पादित पुत्र तो दूसरे का पुत्र नहीं। इसी कारण उसको दत्तक अथवा कृत्रिम भी नहीं कहा जा सकता। शास्त्रकारोंने दत्तक और कृत्रिम पुत्रका जो लक्षण बतलाया है वह विवाहिता विधवाके गर्भसे स्वयं उत्पन्न किये हुए पुत्रमें नहीं घटता। किन्तु औरस पुत्रका जो लक्षण किया है वह पूरी तरहसे घटता है। जैसे—

माता पिता वा दद्यातां यदद्भिःपुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं संज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥९।१६८॥

माता अथवा पिता प्रसन्न चित्तसे शास्त्रके विधानके अनुसार सजातीय पुत्रहीन व्यक्तिको जो पुत्रदान करते हैं वह पुत्र ग्रहीताका दत्तक पुत्र होता है।

सदृशं च प्रकुर्याद् यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्रं पुत्रगुणायुक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥ (५)

गुण, दोष विशिष्ट और पुत्रके गुणोंसे युक्त जिस सजातीय व्यक्तिको पुत्र बना लिया जाता है वही कृत्रिम पुत्र है।

दोसाष्टकापतेः। कथत त्त्वं व पोवजग्रहणम् इतिचे दौरसविशेषणलेने तिक्रमः तथाच मनुः" स्वक्षेत्रे संस्कृतामस्तु स्वयमुत्पादितश्चयः। तमौर संविजोनौयात्पुत्रं प्रथम कल्पिकमिति। दत्तकमीमांसा। (५) मनुसंहिता।

स्वे क्षेत्रे संस्कृतयान्तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥

विवाहिता सजातीय स्त्रीसे स्वयं जो पुत्र उत्पादन किया जाय वही पुत्र औरस पुत्र और वही मुख्य पुत्र होता है ।

विवाहिता सजातीय स्त्रीके गर्भमें स्वयं उत्पन्न किया पुत्र औरस पुत्र होता है यह लक्षण विवाहिता सजातीय विधवा के गर्भमें स्वयं उत्पादित पुत्रमें पूरी तरहसे घटता है। इसलिये जब पराशरने विधवाके विवाहका विधान किया है और १२ प्रकारके पुत्रोंमेंसे तीन प्रकारके पुत्रोंका विधान भी किया है और जब विवाहिता विधवाके गर्भमें स्वयं उत्पादित पुत्रमें दत्तक और कृत्रिम पुत्रोंके लक्षण नहीं घटते किन्तु औरस पुत्रके लक्षण पूरे तौरसे घटते हैं तो उस पुत्रको अवश्य औरस पुत्र ही स्वीकार करना होगा। कलियुगमें विवाहिता विधवाके गर्भमें स्वयं उत्पादित पुत्रको पौनर्भव कहना किसी भी प्रकारसे पराशरके अभिमत नहीं कहा जा सकता। पूर्व पूर्व युगमें वैसे पुत्रको पौनर्भव पुत्र ही कहा जाता था। यदि कलियुगमें उस पुत्रको भी पौनर्भव कहना आवश्यक होता तो पराशर ही पुत्र गणना करते हुए पौनर्भवका निर्देश करते। उस प्रकारका निर्देश करना तो दूर पराशर संहितामें पौनर्भव कहीं है ही नहीं। इसलिये कलियुगमें विवाहिता विधवाके गर्भसे स्वयं उत्पादित पुत्रको पौनर्भव न कह कर औरस ही गिनना होगा इसमें संदेह नहीं।

कलियुगमें विधवाविवाहका निषेधक कोई प्रमाण नहीं

कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म्म है यह तो निर्णय हो चुका है। अब यह अनुसन्धान करना आवश्यक है कि अन्य शास्त्रोंमें कलियुगमें इस विषयका निषेध करने वाला कोई प्रमाण है कि नहीं। क्योंकि अनेक लोग कहते हैं कि पूर्व २ युगमें विधवा-विवाहका विधान था। कलियुगमें-इसका निषेध है। किन्तु जब पराशर संहितामें केवल कलियुग का धर्म कहा गया है उस धर्ममें भी विधवा-विवाहका स्पष्ट विधान देखा जाता है तब कलियुगमें विधवा-विवाह निषिद्ध कर्म है यह बात किसी रीतिसे भी मानने योग्य नहीं हो सकती। कलियुगमें विधवा-विवाहका निषेध करने वाले कौन सा शास्त्र लेकर वे यह बात कहते हैं यह तो वही जानते हैं। स्मार्त्त भट्टाचार्य रघुनन्दन पण्डितने अपने बनाये ग्रन्थ "उद्वाह-तत्त्व"में बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके ये वचन उद्धृत किये हैं। कोई २ महानुभाव इन्हीं वचनोंको ही विधवा-विवाह निषेधक वचन माननेकी चेष्टा करते हैं। अतएव इस स्थानपर इन सब वचनोंको उद्धृत करके यहां उनका अर्थ और तात्पर्य दिखाया जाता है।

बृहन्नारदीय

समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा॥
देवरेण सुतोत्पत्ति र्मधुपर्कः पशोर्वधः।

मांसादनं तथाश्राद्धे वानप्रस्थ श्रमस्तथा ॥
दत्तायाश्चैव कन्याया पुनर्दानं परस्य च ।
दीर्घकालब्रह्मचर्य्यं नरमेधाश्वमेधकौ ॥
महाप्रस्थानगमनं गोमेधं च तथा मखम् ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

समुद्र यात्रा, कमण्डलुधारण, द्विजातिका भिन्न जातिकी स्त्रीके साथ विवाह, देवरसे पुत्रका उत्पन्न करना, मधुपर्कमें पशुका वध करना, श्राद्धमें मांसका भोजन, वानप्रस्थ धर्मका पालन करना; एक पुरुष को कन्या दान करके पुनः उसको दूसरेके हाथ दान करना, दीर्घ काल तक ब्रह्मचर्य्यका पालन करना, नरमेध यज्ञ; अश्वमेध यज्ञ, महाप्रस्थान, गमन, गोमेध यज्ञ, पण्डित लोगोंने कलियुगमें ये सब धर्म वर्जन कर दिये हैं।

इन सब वचनोंके किसी अंशमें भी विधवा-विवाहका निषेध नहीं होता। जो लोग समझते हैं कि एक पुरुषको कन्यादान करके फिर उसी कन्याको अन्य वरके हाथ देना, इस बातके निषेधमें ही विधवा-विवाहका निषेध हो जाता है उनको इस निषेधका तात्पर्य्य ही ज्ञात नहीं है। पूर्व पूर्व युगमें यह व्यवहार था कि प्रथम किसी व्यक्तिके साथ वाग्दान किया और बादमें उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट वर पाया तो उसको ही कन्या दान कर देते थे। जैसे—

सकृत् प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक् ।
दत्तामपि हरेत्पूर्वाद् श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत ॥ १ । ६५ ॥

कन्याका एक ही बार दान किया जाता है दान करके पुनः

(याज्ञवल्क्य १ । ६५)

लेवे तो चोरके समान दण्ड भागी होता है। किन्तु पूर्व वरकी अपेक्षा श्रेष्ठ वर हो तो दान की हुई कन्याको पूर्व वरसे वापिस ले लेवे अर्थात् उससे उसको विवाह न देकर उपस्थित श्रेष्ठ वरके साथ कन्याका विवाह कर दे।

पूर्व पूर्व युगमें पहले एक वरके हाथ कन्याका दान करके बादमें यदि उस वरकी अपेक्षा श्रेष्ठ वर उपस्थित हो जाय तो उसको कन्या दान का देना ही शास्त्रानुमत व्यवहार था 'बृह-न्नारदीय' के वचनसे इसका निपेध होता है। इसलिये इस निषेध को कलियुगमें विधवा-विवाहका निषेधाक मान लेना किसी तरह भी विचार-सङ्गत नहीं है। और जब पराशर संहितामें कलियुगमें विधवा-विवाहका स्पष्ट विधान दिखाई देता है तब एक क्लिष्ट कल्पना करके बृहन्नारदीयके इस वचनको विधवा-विवाहका निषेधक वाक्य कहना किसी मतसे भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता।

दीर्घकाल ब्रह्मचर्यं धारणं च कमण्डलोः।
देवरेण सुतोत्पत्तिर्दत्ताकन्या प्रदीयते।
कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च विजातिभिः।
आततायिद्विजाग्र्यानां धर्मयुद्धेन हिंसनम् ॥
वानप्रस्थाश्रमश्चपि प्रवेशो विधिदेशितः।
वृद्धमृवाध्यायसापेक्षमघसंकोचनंतथा ॥
प्रायश्चित्त विधानं च विप्राणां मरणान्तिकम्।
संसर्गदोषः पापेसु मधुपर्केपशोर्वधः
दत्तौरसेतरेजांतु पुत्रत्वेनपरिग्रहः
शूद्रेषु दासगोपाल कूलमीत्रार्धसीरिणाम्

भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थ सेवातिदूरतः
ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पक्तादिक्रियापि च
भृऽग्निपतनं चैव वृद्धादिमरणंतथा
एतानि लोकगुप्तयर्थं कलेरादौ महात्माभ
निवर्त्तितानि कर्माणि व्यवस्थापूर्वकं बुधे॥

दीर्घ कालकाब्रह्मचर्य, कमण्डलु धारण, देवर द्वारा पुत्रोत्पादन दत्ताकन्याका दान, द्विजातिका असवर्णा कन्याका पाणिग्रहण, धर्मयुद्धमें आततायी ब्राह्मणका प्राणवध, वानप्रस्थाश्रमका पालन चरित्र और वेदाध्ययनके अनुकूल अशोचका संकोच, ब्राह्मणका मरणान्त प्रायश्चित्त, पातकीके साथ संसर्गदोष, मधुपर्कमें पशुका वध, दत्तक और औरस पुत्रोंसे भिन्न पुत्रोंको स्वीकार करना, द्विजका शूद्रोंके बीचमें दास, गोपाल, कुल मित्र और अर्धसीरीके अन्नका भोजन करना, अतिदूरके तीर्थकी यात्रा करना, शूद्रका ब्राह्मणादिके यहाँ भोजन आदि पकानेका काम ऊचे स्थानसे गिरना, अग्निमें प्रवेश वृद्धादिका मरण, महात्मा विद्वानोंने लोक-रक्षाके निमित्त कलिके आदिसे ही इन समस्त कर्मोंका निषेध कर दिया है।

इन सब बचनोंके किसी अंशमें भी विधवा विवाहका निषेध सिद्ध नहीं होता। दत्ता कन्याका दान इस अंशके निषेधमें विधवा विवाहका निषेध हुआ यह कहा नहीं जा सकता। यह बात वृहन्नारदीयके वचनके इसी प्रकारके अंशकी मीमांसा करते हुए पहले ही कह आये हैं।

कोई लोग कहा करते हैं कि आदित्य-पुराणमें दत्तक और औरस पुत्रोंसे अतिरिक्त पुत्रोंके स्वीकार करनेका जो निषेध है इसी द्वारा विधवाविवाहका निषेध भी सिद्ध हो जाता है। उनका

ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि पूर्व पूर्व युगोंमें विधवाके गर्भसे उत्पन्न पुत्रको पौनर्भव पुत्र कहा जाता था। जब कलियुगमें दत्तक और औरससे भिन्न पुत्रोंके स्वीकार करनेका निषेध हैं तो पौनर्भव पुत्रको पुत्र रूपसे स्वीकार करनेका निषेध तो आपसे आप ही सिद्ध हो जाता है। विवाह तो पुत्रके निमित्त ही किया जाता है। यदि विवाहिता विधवाके गर्भसे उत्पन्न पौनर्भव पुत्रकी पुत्रताका ही निषेध है तब विधवाका विवाह ही निषिद्ध है। यह शंका सचमुच एक बड़ी जबरदस्त प्रतीत होती है। यदि पराशर संहिता न होती तो इस श्लोकसे ही विधवा-विवाहका निषेध हो सकता था। जो लोग इस प्रकारकी आपत्तिको उठा कर विधवा-विवाहका निषेध करनेका यत्न करते हैं तो मालूम होता है कि पराशर संहितापर उनकी दृष्टि ही नहीं है। पूर्व पूर्व युगोंमें विवाहिता विधवाके गर्भसे उत्पन्न बालकको पौनर्भव नामसे कहा जाता था। यह बात ठीक है। किन्तु पहले कलियुगमें विवाहिता विधवाके गर्भसे उत्पन्न पुत्रको पौनर्भव नामसे कहनेके बारेमें यह आलोचना की गयी है। इससे यह बात विशेष रूपसे प्रतीत होती है कि कलियुगमें विवाहिता विधवाके गर्भसे उत्पन्न सन्तान औरस पुत्र होती है, पौनर्भव नहीं होती। इसी लिये यदि वैसा पुत्र पौनर्भव होकर औरस हुआ तब दत्तक और औरस पुत्रसे अतिरिक्त पुत्रके पुत्रत्वके निषेधसे किस प्रकार कलियुगमें विधवा विवाहका निषेध सिद्ध हो सकता है?

शास्त्रोंमें परस्पर प्रबल और निर्बल होनेका सिद्धान्त

यदि बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके जिस प्रकार तात्पर्य खोला गया है तदनुसार ये समस्त वचन किसी प्रकार कलियुगमें

विधवा-विवाहके निषेधके बोधक नहीं होते। यदि निषेधवादी लोग इस व्याख्यासे सन्तुष्ट न होकर विधवा-विवाहकी शास्त्रीयताके विषयमें विवाद करते हैं अर्थात् आदित्य पुराण और बृहन्नारदीयके वचनोंको विधवा-विवाहका निषेधक कहनेमें आग्रह करें तो भी अब यह बात विवेचना करने योग्य है कि पराशर संहितामें तो विधवा-विवाहका विधान है और बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणमें निषेध है तो इनके बीचमें कौनसा शास्त्र बलवान होना उचित है। अर्थात् पराशरके विधानके अनुसार विधवा-विवाह कर्त्तव्य कर्म गिना जाय या बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके निषेधके अनुसार विधवा-विवाहको अकर्त्तव्य कर्म माना जाय। इस विषयमें मीमांसा करते हुए यही अनुसन्धान करना आवश्यक है कि शास्त्रकारोंने शास्त्रोंके परस्पर विरोध होने पर उनके निर्बल और प्रबल होनेके विषयमें क्या सिद्धान्त निर्णय किया है। जैसे—

श्रुतिस्मृति पुराणानां विरोधो य भदृश्यते।
तंत्रश्रौतं प्रमाणंन्तु तयोर्द्वैधेस्मृतिर्य॥

(व्याससंहिता)

जिस स्थलमें वेद, स्मृति और पुराण इनमें परस्पर विरोध देखा जाय वहां वेद ही प्रमाण है अर्थात् जिस स्थलमें किसी विषयमें वेदमें एक प्रकारका बिधान है, स्मृतिमें अन्य प्रकारका बिधान है पुराणमें और एक प्रकारका बिधान है, उस स्थानपर कर्त्तव्य कर्म क्या है अर्थात् किस शास्त्रका आश्रय लेकर कार्य करना चाहिये! कारण कि मनुष्योंके लिये तीनों ही शास्त्र हैं एक शास्त्रका अवलम्बन करके कार्य करें तो और दो शास्त्रोंका अपमान होगा। इस प्रकार शास्त्रोंका अपमान करनेपर मनुष्य

अधर्ममें ग्रस्त हो जाय। इसी कारण भगवान वेद व्यासने यह मीमांसा की है कि वेद, स्मृति और पुराणोंमें परस्पर विरोध हो तो स्मृति और पुराणके अनुसार न चल कर वेदके अनुसार चलना चाहिये। और स्मृति और पुराणमें परस्पर विरोध हो तो पुराणके अनुसार न चल कर स्मृतिके अनुसार चलना चाहिये। इसलिये देखो! बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणके वचनोंके जिस प्रकारसे तात्पर्यकी व्याख्या की गयी है तदनुसार किसी प्रकार भी विधवा-विवाहका निषेध सिद्ध नहीं होता। दूसरे, यदि इन ही सब वचनोंको किसी प्रकार विधवा-विवाहका निषेधक मान लिया जा सके तो पराशर संहिताके साथ बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणका विरोध होता है। अर्थात् पराशरने तो कलियुगमें विधवा विवाहका विधान किया और बृहन्नारदीय और आदित्य पुराण विधवा-विवाहका निषेध करते हैं, किन्तु पराशर संहिता स्मृति है, बृहन्नारदीय और आदित्य पुराण पुराण हैं। पुराण कर्त्ता स्वयं व्यवस्था देते हैं कि स्मृति और पुराणोंका परस्पर विरोध हो तो पुराणके अनुसार न चल कर स्मृतिके अनुसार चलना चाहिये। फलतः बृहन्नारदीय और आदित्य पुराणमें यद्यपि विधवा-विवाहका निषेध सिद्ध होता है तथापि उनके अनुसार न चलकर पराशर संहिता में विधवा-विवाहका जो विधान है उसके अनुसार ही चलना उचित प्रतीत होता है।

शिष्टाचार

अतएव कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्र विहित कर्त्तव्य कर्म है, यह निर्विवाद सिद्ध हो गया। अब यही आशंका उपस्थित हो सकती है कि कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्रके अनुसार कर्त्तव्य कर्म होने पर भी शिष्टाचार विरुद्ध होनेसे उसका

पालन नहीं किया जा सकता । इस आशंकाका निवारण करनेके लिये इसका अनुसन्धान भी करना होगा । भगवान वसिष्ठने अपनी संहितामें इस विषय पर मीमाँसा की है ।

जैसे—

लोके प्रेत्य वा विहितो धर्मः । तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम् ।

(वसिष्ठ संहिता)

क्या लौकिक क्या पारलौकिक दोनों स्थानोंमें शास्त्र विहित धर्म ही पालन करना चाहिये । यदि शास्त्रका विधान प्राप्त न हो तो शिष्टाचार ही प्रमाण है ।

अर्थात् शास्त्रमें जिन धर्मोंका विधान है मनुष्यको उनका पालन तो करना ही होगा । और जिस स्थानमें शास्त्रमें विधान और निषेध कुछ नहीं और शिष्ट-परम्परामें किसी कर्मकी प्रथा चली हुई है ऐसे स्थानमें शिष्टाचारको प्रमाण मान कर उसी कर्मके आचरणको शास्त्र विहितके तुल्य जानना उचित है । अतएव जब पराशर संहितामें कलियुगमें विधवा-विवाहका स्पष्ट विधान दिखाई देता है तब शिष्टाचार विरुद्ध कहकर विधवा-विवाहको अकर्त्तव्य कर्म कहना किसी प्रकार भी शास्त्र सम्मत या बिचार संगत नहीं है । वशिष्ठने शास्त्रमें विधिके न होनेके अवसर में ही शिष्टाचारको प्रमाण माननेकी व्यवस्था दी है । इसलिये कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत कर्त्तव्य कर्म है इस विषयमें और कोई संशय अथवा आपत्ति नहीं हो सकती ।

दौर्भाग्यसे बाल्यकालमें जो विधवा हो जाती हैं वे जीवन भर जो असह्य क्लेश भोगा करती हैं उन क्लेशोंको जिनकी कन्याएं, बहिनें, पतोहुएं आदि छोटी उमरमें विधवा हो जाती हैं वे

विशेष रूपसे अनुभव करते हैं। कितनी विधवाएं ब्रह्मचर्य पालन करनेमें असमर्थ होकर व्यभिचार दोषसे दूषित और भ्रूण हत्याके पापमें लिप्त हो जाती हैं और वे पति कुल, पितृ कुल, मातृकुलको कलंकित करती हैं। यदि विधवाओंके विवाहकी प्रथा प्रचलित हो जाय तो असह्य वैधव्य कष्टका निवारण, व्यभिचार दोष और भ्रूण हत्याके पापका परिहार और तीनों कुलोंका कलंक मोचन हो सकता है। जब तक यह शुभ प्रथा प्रचलित नहीं होती तब तक व्यभिचार दोष और भ्रूण हत्याके पापका स्रोत, कलंकका प्रवाह और वैधव्य यन्त्रणाकी आग उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी।

अन्तमें सर्व साधारणके प्रति विनयपूर्ण वाक्योंसे यह प्रार्थना है किआप यह सब अनुशीलन करके विधवा-विवाहकी शास्त्रीयताके विषयमें जो कुछ भी दर्शाया जायगा उसको आद्योपान्त विशेष रूपसे आलोचन करके देखिये। कि—

विधवा विवाह प्रचलित होना उचित है या नहीं।

कलकत्ता। संस्कृत, विद्यालय।
१६ माघ, संवत् १९११

ईश्वरचन्द्र शर्मा

विधवा विवाह
प्रचलित होना उचित है कि नहीं।
द्वितीय भाग

परिश्रमकी सफलता।

"विधवा-विवाह प्रचलित होना उचित है कि नहीं" यह निबन्ध जब पहले पहले प्रकाशित हुआ तब हमारी यह दृढ़ संभावना थी कि इस देशके लोग इस पुस्तकका नाम सुनकर और इसका उद्देश्य विचार करही अवज्ञा, तिरस्कार और अश्रद्धा दिखावेंगे। आस्था दृढ़ता वा आग्रह पूर्वक इस पुस्तकको लेकर नहीं पढ़ेंगे। फलतः पुस्तकके संकलन करनेमें मैंने परिश्रम किया वह सब व्यर्थ जायगा। किन्तु सौभाग्यसे पुस्तक प्रकाशित होते ही लोगोंने ऐसे आग्रह पूर्वक ग्रहण करना प्रारम्भ किया कि एक सप्ताहसे भी कम समयमें ही प्रथम बार की छपी २००० पुस्तकें सर्वथा समाप्त हो गयीं। यह देखकर उत्साहसे भरकर मैंने और ३००० पुस्तक प्रकाशित कराईं। थोड़ेसे ही दिनोंमें उनका भी अधिक भाग खूब उत्सुकताके साथही लोगोंने हाथों हाथ ले लिया। जब सब स्थानों पर इतना अधिक आग्रहसे यह पुस्तक स्वीकार किया गया तब इस पुस्तकके संकलनके विषयमें जो परिश्रम मैंने करवाया मेरा वह सब परिश्रम सफल हो गया, इसमें संदेह नहीं।

हर्षका विषय यह है कि क्या विषयी, क्या शास्त्र व्यवसायी बहुतोंने अनुग्रह पूर्वक उक्त पुस्तकका उत्तर लिखकर, मुद्रित कराकर सर्व साधारणमें प्रचार करनेके निमित्त प्रकाशित कराया। मेरा यह स्थिर विचार था कि इस विषयमें सब लोग अवज्ञा, तिरस्कार और अश्रद्धा करेंगे। उसी विषयमें बहुतोंने श्रम और

व्यय करना भी स्वीकार किया, यह भी कम आल्हादकी बात नहीं। विशेषत: उत्तर देने वाले महाशयोंमेंसे अनेक महोदय धन सम्पत्ति और पाण्डित्यमेंभी इस देशमें प्रधान गिने जाते थे। तब भी यह पुस्तक प्रधान २ लोगोंके पढ़ने योग्य, विचार करने योग्य और उत्तर देने योग्य भी हुआ। तब इससे अधिक मेरे और मेरे प्रस्तावके बारेमें अधिक सौभाग्यका विषय और हो क्या सकता है।

प्रतिद्वियोंकी आलोचना।

किन्तु आक्षेपका विषय यह है कि जो महाशय मेरे लेखका उत्तर देने लगे उनमेंसे बहुतोंको विशेष रूपसे इस बातकाभी पता नहीं था कि किस चालसे ऐसे बड़ेभारी विषयमें विचार किया जाता है कोई कोई तो विधवा-विवाह शब्दको सुनकर ही मारे क्रोधके अधीर हो गये थे और विचारके समय धैर्य लोप हो जानेके कारण तत्वनिर्णयके समयमें जो अल्प दृष्टि रहती है, बहुतोंके उत्तरोंमें इस दोषका स्पष्ट प्रमाण भी पाया गया। किसी किसीने स्वच्छन्द होकर यथार्थ और अयथार्थके विचारका परित्याग कर केवल कुछ एक झूठ मूठ बिना मूल आधारके आपत्ति की। किन्तु ऐसा कहना पड़ेगा कि उन्होंने जिस अभिप्रायसे वैसीआपत्ति की वह भी एक प्रकारसे सफल हो गयी। क्योंकि इस देशके लोग अधिकांश शास्त्रको नहीं जानते। इस कारण वे शास्त्रीय बातोंमें दोनों पक्षोमें जब वाद-विवाद होता है तो दोनों पक्षोंके प्रमाणोंके प्रयोग होने पर उनकी सबलता और निर्बलताका विचार करके झूठ और सचका निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होते। वे लोग जिस किसी प्रकारकी आपत्ति उठ जाने पर भी संशयमें पड़ जाते हैं। पहले पहल बहुतसे लोग मेरी लिखी पुस्तक पढ़कर पुस्तकमें लिखी बातको ही शास्त्र सम्मत स्थिर सिद्धान्त मान चुके थे।

बादमें कुछ एक आपत्तियां उठते ही इस विषयको सर्वथा शास्त्र-विपरीत मानने लगे। और अधिक क्या, साधारण आदमी संस्कृत नहीं जानते, फलतः वे संस्कृत वचनोंके स्वयं अर्थ और तात्पर्य समझनेमें समर्थ नहीं होते। उनके लिये भाषामें अर्थ लिख देना आवश्यक होता है। वे उसी अर्थ पर निर्भर करके झूठ सचका निर्णय कर लेते हैं। यह सुयोग पाकर बहुतसे महाशयोंने अपना मतलब साधनेके लिये नाना स्थलोंपर अपने अपने उद्धृत प्रमाणों का उलटा अर्थ लिख डाला और संस्कृतको न जानने वाले लोगों ने उनके लिखे अर्थोंको ही वास्तविक अर्थ समझ लिया। इस बारेमें इस प्रकारके पाठकगणपर कोई दोष नहीं दिया जासकता क्योंकि कोई आदमी धर्मशास्त्रके विचार करनेमें लग कर छल और कौशलसे मुनियोंके वचनोंकी उलटी व्याख्या लिखकर सर्वसाधारणके सामने अनायास बे-रोक टोक बिना हिचकिचाहटके प्रचार करेंगे यह कोई भी समझ नहीं सकता था।

अधिक आक्षेपका विषय यह है कि उत्तर दाता महाशयोंमेंसे बहुतसे उपहास और कटूक्ति प्रिय थे। इस अवसर पर उपहास-रसिक और कटूक्ति धर्मशास्त्रके विचारका भी प्रधान अङ्ग होता है यह बात इससे पहले मुझे मालूम नहीं थी। फलतः कहनेका मतलब यह है कि सबने एक ही रीतिका अवलम्बन नहीं किया। भिन्न भिन्न स्वभावका होना ही भिन्न भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तिका प्रधान कारण है। परन्तु इस प्रकारके महत्वके विषय पर उसी प्रकारकी शैलीका अवलम्बन करना अच्छा था। आश्चर्यका विषय यह है कि जिन लोगोंके उत्तरोंमें जितना अधिक हंसी मज़ाक और गाली गलौजका अधिक भाग था उनका उत्तर उतना ही बहुतसे लोग पसन्द भी अधिक करते थे। बहुत लोगोंकी इसी प्रकार उत्तर देनेकी चाल देखकर प्रथम मेरे अन्तः करणमें बहुत अधिक

बेचैनी हुई। परन्तु एक उत्तरको पढ़कर मेरी सब बेचैनी दूर हो गयी। इस उत्तरमें लेखकका नाम नहीं था। एक वरने यह उत्तर लिखकर प्रकाशित कराया था। यह वर महाशय उमरमें बूढ़े थे और सब जगह सबसे मुख्य विज्ञ प्रसिद्ध थे। उनके उत्तरमें बीच बीचमें उपहासरसिकता और गाली देनेका प्रेम दिखाई देता था। फलतः मैंने यह निश्चय कर लिया था कि धर्मशास्त्रके विचारमें लगकर वादीके प्रति उपहास वाक्यों और कटूक्तियोंका प्रयोग करना भी इस देशमें विद्वान होनेका लक्षण है। यदि यह मूर्खका लक्षण होता तो जिसको देश भरके लोगोंने एक स्वर होकर सर्व प्रधान विज्ञ माना वही वृद्ध महानुभाव कभी भी इस शैलीको स्वीकार न करते। किन्तु ये भी इस प्रणालीसे उत्तर क्यों न देते। उत्तरदाता महाशयोंका सबके सामने मैं अपनेको सबसे अधिक आभारी समझता हूं और उन सबको मुक्त-कण्ठ होकर सहस्र सहस्र साधुवाद देता हूं। यदि वे परिश्रम करके उत्तर देनेकी कृपा न करते तो यही बात जानी जाती कि इस देशके पण्डितों और प्रधान प्रधान पुरुषोंने यह प्रस्तावित विषय अग्राह्य करके छोड़ दिया है। उनके उत्तर देनेसे ही अन्तमें यह विशेष रूपसे प्रमाणित हो गया कि यह विधवा-विवाहका प्रस्ताव ऐसा विषय नहां जिसको एक बार ही उपेक्षा और तिरस्कार करके बैठा जासके। मैं नहीं कह सकता कि यदि वे लोग उत्तर न देकर निश्चिन्त बैठ जाते तो मैं कितना बेचैन और विक्षुब्ध हो जाता। उन लोगोंने मेरे लिखे विधवा-विवाह विषयक निबन्धको अशास्त्रीय कहकर उसको प्रमाणित करनेके लिये जितने भी इस सम्बन्धमें प्रमाण पाये जा सकते थे उनको विशेष परिश्रम और खोजसे अपने अपने लेखोंमें सबने उद्धृत किया। जब नाना प्रकारके व्यक्तियोंने नाना प्रकारकी शैलियोंसे

जितनी दूर तक हो सका आपत्तियां उठाई तब विधवा-विवाहके अशास्त्रीय होनेके पक्षमें जो कुछ भी कहा जा सकता था, कहना न होगा कि, वह सब शेष हो गया था। अब उन्हीं कुछ एक आपत्तियों पर विचार होजाय तो कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्रीय है कि नहीं इस विषयमें सब संशय दूर हो सकेंगे।

प्रतिवादी महाशयोंने अपनी अपनी उत्तर पुस्तकोंमें खूब विस्तारसे लिखा है। परन्तु सब बातें इस स्थान पर उपयोगी नहीं है। जो बातं प्रस्तुत विषयमें उपयोगी हैं उनहीका यथा शक्ति प्रत्युत्तर देता हूं। मैंने इसी प्रत्युत्तर देनेके बारेमें विशेष यत्न और विशेष परिश्रम किया है। पाठकगणसे अत्यन्त विनय पूर्वक प्रार्थना है कि वे यदि कृपा करके दत्तचित्त होकर इस प्रत्युत्तर पुस्तकको आद्योपान्त पढेंगे तो मेरा समस्त यत्न और समस्त श्रम सफल होगा।



पहला परिच्छेद

पराशरके वचन

विवाहितका मतलब वाग्दानसे देना नहीं है।

कुछ महानुभावोंने यह निर्णय किया है कि पराशर संहिताके विवाह विषयक वचनोंका अभिप्राय यह है कि यदि वाग्दानसे दी हुई कन्याका वर देशान्तरमें लापता होने आदि आपत्तियोंमें हो तो ही उस कन्याका अन्य वरसे विवाह हो सकता है। ऐसा अभिप्राय कभी नहीं है कि विवाहिता विधवा आदि स्त्रीका पुनर्वार विवाह हो। (*)

इस स्थान पर यही विवेचना करनी आवश्यक है कि प्रतिवादी महाशयकी यह व्याख्या संगत भी हो सकती है कि नहीं। पराशरने लिखा है कि—

* (१) अमड़पाड़ा निवासी:—श्रीयुत महेशचन्द्र चूड़ामणि
(२) कोननगर निवासी:—श्रीदीनबन्धु न्यायरत्न
(३) कालीपुर निवासी:—श्रीशशिजीवन तर्करत्न
(४) अरीयादह निवासी:—श्रीयुत रामतर्कालंकार
(५) पूरिया निवासी:—श्रीयुत ईशानचन्द्र विद्यावागीश
(६) भायदाबाद निवासी:—श्रीयुत गोविन्दकान्त विद्याभूषण, कृष्णमोहन न्यायपंचानन, रामगोपाल तर्कालंकार, माधवराय न्यायरत्न, राधाकान्त तर्कालंकार।
(७) जनाई निवासी:—श्रीयुत जगदीश्वर विद्यारत्न
(८) आन्दुलीय राजसभाके पण्डित श्रीयुत रामदास तर्क सिद्धान्त
(९) भवानीपुर निवासी:—श्रीयुत प्रसन्नकुमार मुखोपाध्याय
(१०) श्रीयुत नन्दकुमार कविरत्न, आनन्दचन्द्र शिरोमणि, गंगानारायण न्याय वाचस्पति, हाराधन कविराज।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

स्वामी खो गया हो, मर गया हो, नपुंसक हो, पतित हो गया हो, या संसार धर्मका परित्याग करके संन्यासी हो गया हो तो इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियोंका पुनः विवाह होना शास्त्र विहित है।

पराशरने इस श्लोकमें जिन शब्दोंका प्रयोग किया है उन उन शब्दोंका वास्तविक अर्थ करने पर उक्त प्रकारकी पांच आपत्तियां उपस्थित होने पर विवाहिता स्त्री पुनः विवाह कर सकती है यही अभिप्राय स्वभावतः प्रतीत होता है। क्लिष्ट कल्पना द्वारा शब्दोंके दूसरे २ अर्थ गढ़कर इनसे दूसरा अभिप्राय नहीं निकाला जा सकता। बिना किसी विशेष कारणके शब्दका सहज अर्थ छोड़कर क्लिष्ट कल्पनासे अन्य अर्थकी कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु इस स्थानपर वैसा कोई विशेष कारण उपलब्ध भी नहीं होता। इसलिये भाष्यकार माधवाचार्यने विधवा-विवाहका द्वेषी होकर पराशरके वचनको विधवा आदि विवाहिता स्त्रीके विवाहका विधायक स्वीकार नहीं किया। जैसे—

परिवेदन पर्याधानयोरिव स्त्रीणां पुनरुद्वाहस्यापि प्रसङ्गात् क्वचिदभ्यनुज्ञां दर्शयति—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

स्वामी कहीं खो जाय, मर जाय, नपुंसक हो जाय, संसार धर्म परित्याग करके संन्यासी हो जाय या पतित हो जाय तो स्त्रियोंका पुनर्विवाह करना शास्त्र विहित है।

पुनरुद्वाहमकृत्वा ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठाने श्रेयोऽतिशयं दर्शयति

मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

पुनर्विवाह न करके ब्रह्मचर्य व्रतके अनुष्ठानमें अधिक फल दिखलाते हैं।

जो नारी स्वामीकी मृत्यु होनेपर ब्रह्मचर्य पालन करके रहती है वह देहान्त होनेपर ब्रह्मचारियोंके समान स्वर्ग लाभ करती है।

ब्रह्मचर्यादप्यधिकं फलं दर्शयति—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।

तावत्कालं वसेत् स्वर्गं भर्त्तारं याऽनुगच्छति॥

सहगमनमें ब्रह्मचर्यसे भी अधिक फल दिखाते हैं—

मनुष्य शरीरमें जो साढ़े तीन करोड़ लोम हैं, जो नारी स्वामीके साथ ही चितापर चढ़ जाती है वह उतने वर्षों तक स्वर्गमें रहती है। यह पराशरका वचन माधवाचार्यके मतमें विधवा आदि विवाहिता स्त्रियोंके विवाहका विधायक नही होता तो वे विवाह न करके ब्रह्मचर्य करनेपर अधिक फल दिखलानेकी बात न लिखते। क्योंकि पूर्व वचनसे विधवा आदि विवाहिता स्त्रियोंके विवाहका विधान न होता तो विवाह न करके अधिक फल होगा ऐसा पीछे आनेवाले वचनोंमें दर्शाना किस प्रकार संगत हो सकता है?

नारदस्मृतिका प्रमाण।

नारदसंहिता देखें तो "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचनमें कहा

विवाह-विधान वाग्दान-द्वारा दी गयी स्त्रीके विषयमें किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता यह साफ़ तौरपर पता लग जावेगा। जैसे

नष्टेमृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
अष्टौ वर्षाण्यपेक्षते ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसुताच चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत् ॥
क्षत्रिया षट समास्तिष्ठेदप्रसूता समात्रयम्।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षे त्वितरा वसेत् ॥
न शूद्रायाः स्मृतः कालः एष प्रोषितयोषिताम्।
जीवति त्रायमाणे तु स्यादेष द्विगुणो विधिः ॥
अप्रवृत्तौ तु भूतानां दृष्टिरेषा प्रजापतेः।
अतोऽन्यगमने स्त्रीणामेष दोषो न विद्यते ॥

स्वामीके देशान्तर चले जानेपर, मर जानेपर, नपुंसक होनेपर, संसारधर्म छोड़कर संन्यासी हो जानेपर अथवा पतित हो जानेपर स्त्रियोंका पुनः-विवाह शास्त्र विहित है। स्वामीके विदेशमें प्रवासमें चले जानेपर ब्राह्मण जातिकी स्त्री आठ वर्षतक प्रतीक्षा करे। यदि सन्तान न हो तो चार वर्षतक, उसके बाद वह विवाह करले। क्षत्रिय जातिकी स्त्री ६ वर्षतक प्रतीक्षा करे, यदि सन्तान न हो तो तीन वर्षतक। वैश्य जातिकी स्त्री यदि सन्तान हो तो ४ वर्ष तक और सन्तान न तो दो वर्ष तक। शूद्र जातिकी स्त्रीके लिये प्रतीक्षा-कालका नियम नहीं है। पतिके

प्रवासमें चले जानेपर यदि पति जीवित है ऐसा सुनाई दे तो पूर्व कहे कालसे दुगुने कालतक प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि कोई समाचार न मिले तो पूर्व कहा काल-नियम ही है। प्रजापति ब्रह्माका यही सिद्धान्त है। इसलिये ऐसे अवसरमें स्त्रियोंका पुनर्विवाह करना दोषजनक नहीं है।

"नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचनमें पतिके खो जाने या लापता हो जाने इत्यादि पांच प्रकारकी आपत्तियां हों तो स्त्रियोंको पुनर्विवाह करनेका विधान है, यह किसी प्रकारसे भी वाग्दानसे दी कन्याके सबन्धमें होना सम्भव नहीं। क्योंकि पतिके प्रवासमें रहनेकी दशामें सन्तानकेरहते हुए एक प्रकारका काल नियम और सन्तान न रहनेपर दूसरे प्रकारका काल-नियम दिखाई पड़ता है। सगाई या वाग्दानसे दी कन्याके विषयमें यह विवाह विधान होता तो सन्तान हो या न हो इस प्रकारका उल्लेख किस प्रकारसे होना सम्भव है? यदि कहें कि नारद संहिताका वचन विधवा आदि विवाहित स्त्रियोंके विवाहका प्रतिपादक होता मालूम होता है किन्तु नारद संहिता सत्ययुगका शास्त्र है, वह कलियुगका शास्त्र नहीं फलतः उसके अनुसार कलियुगमें विधवा आदि विवाहिता स्त्रियोंका पुनर्विवाह सिद्ध नहीं हो सकता। इसपर हमें यही कहना है कि नारदसंहिता सत्युगका शास्त्र है, ठीक है, किन्तु नारदके वचनमें जो कुछ शब्द हैं पराशरके वचनोंमें भी वही सब शब्द ज्योंके त्यों विद्यमान हैं। फलतः नारदके वचनोंसे जो अर्थ सिद्ध है पराशरके वचनोंसे भी अवश्य वही अर्थ सिद्ध होना चाहिये। यह तो कोई भी नहीं मानेगा कि युगभेदसे अर्थ भेद भी होता है। सत्ययुगमें जिस शब्दका जो अर्थ है कलियुगमें उसी शब्दका वही अर्थ रहना चाहिये इसमें संदेह नहीं। फलतः, नारद वचन और पराशर वचनमें जब शब्दांशमें एक

बिन्दु और विसर्ग तकका भी हेर फेर नहीं,तब अर्थांशमें भी कोई हेरफेर नहीं हो सकता। फलतः,'नष्टे मृते प्रव्रजिते'यह वचन दोनों संहिताओंमें इसी प्रकार है। इसलिये दोनों संहिताओंमें भी निःसंदेह उनको इसी प्रकारका अर्थवाला होना चाहिये। इस विषयमें मतभेद करनेके लिये उद्यत होना केवल मूर्खता है। अतएव"नष्टे-मृते प्रव्रजिते"इस वचनमें कहा हुआ विवाहका विधान वाग्दानसे दी कन्यामें घट नहीं सकता यही निःसंदेह प्रतीत होता है।

सातपुनर्भू कन्याओंकी संगति

जो लोग पराशरके विवाह विधायक वचनको वाग्दानसे दी कन्याके विषयका बतलानेकी चेष्टा करते हैं उनका कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी किसी वचनमें विवाहिता स्त्रीके विवाहका निषेध देखा जाता है। पराशरके वचनोंको विवाहिता स्त्रीके विवाहका विधायक कहेंगे तो इन सब वचनोंसे विरोध होगा। किन्तु वाग्दानसे दी कन्याके विवाहका विधान नाना वचनोंमें किया गया देखा जाता है सुतरां पूर्वोक्त विरोधके परिहारके लिये वाग्दत्ताके विवाहके विधान करनेवाले वचनोंके साथ एकवाक्यता करके पराशरके वचनको वाग्दत्ता विषयक मान कर ही व्यवस्था करनी पड़ेगी। उनके मतमें इस प्रकारसे व्यवस्था करनेसे सब वचनोंके साथ एकवाक्यता और अविरोध होगा। पराशरके वचनोंको वाग्दत्ताके विषयका मान लेनेपर ही सब वचनोंके साथ अविरोध और ऐक्य हो गया, यही निश्चय करके प्रतिवादी महाशयगण पराशरके वचनमें विधवा-विवाहका विधान करनेका खण्डन करते हैं। किन्तु इस विषयमें उनके प्रति हमें यही कहना है कि जिस प्रकार किसी किसी विषयमें किसी वचनम विवाहिताके पुनर्वार विवाहका निषेध दिखाई देता है

उसी प्रकार काश्यपके वचनमें वाग्‌दत्ताके पुनःवार विवाहका निषेध भी दीख पड़ता है जैसे—

सप्त पौनर्भवाः कन्याः वर्जनीयाः कुलाधमाः ।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमंगला ॥
उदकस्पर्शिता याच याच पाणिगृहीतिका ।
अग्नि परिगता याच पुनर्भूपूभवा च या ॥
इत्येताः काश्यपेनोक्ता दहन्तिकुलमग्निवत् ।

(उद्वाह तत्वधृत काश्यप वचन)

'वाग्‌दत्ता' अर्थात् जिसको वाणी द्वारा दानकर दिया है, 'मनोदत्ता' अर्थात् जिसको मन मनमें दानकर दिया गया है। 'कृतकौतुकमंगला' जिसके हाथमें विवाह सूत्र्] बांध दिया गया हो, 'उदकस्पर्शिता' अर्थात् जिसे जल छूककर दान कर दिया गया हो, 'पाणिगृहीतिका' जिसका पाणिग्रहण संस्कार हो गया हो, 'अग्निपरिगता' जिसके कुशण्डिका अर्थात् अग्निकी प्रदक्षिणा हो चुकी हो, और 'पुनर्भू प्रभवा' जिसका जन्म पुनर्भू स्त्रीके गर्भसे हुआ हो, कुलोंमें अधम ये सात पुनर्भू कन्याएं वर्जन करने योग्य हैं ये सात काश्यपोक्त कन्याएं विवाह कर लेनेसे पति-कुलको अग्निके समान जला देती हैं।

देखिये !जब काश्यपने वाग्दत्ता कन्याको विवाहमें वर्जन करने योग्य श्रेणीमें डाल दिया है और उसको भी पुनर्भू नामसे पुकारा है, तब वाग्दत्ता कन्याका भी पुनःविवाह सर्वथा निषिद्ध हो जाता है। काश्यपने वाग्दत्ता और विवाहिता दोनोंको समान रूपसे वर्जन करनेका विधान किया है। यदि किसी वचनमें विवाहिताके पुनर्विवाहका निषेध है यह कहकर पराशरके वचनको विवाहिताके पुनर्वार विवाहका विधायक न कहा जासके तो काश्यप वचनमें

वाग् दत्ताका पुनर्वार विवाहका निषेध होते हुए इस वचनको वाग् दत्ताके पुनर्वार विवाहका विधायक किस प्रकारसे कहा जा सकता है। अतएव इसको वाग् दत्ताके सम्बन्धका मान लेनेसे समस्त वचनोंकी एकता और अविरोध किस प्रकार होगा।

यदि इस विषयमें सब वचनोंकी एकता और अविरोध करना है तो उसके लिये पूर्वोक्त प्रकारसे परिश्रम न करके निम्न लिखित प्रकारसे चेष्टा करना युक्ति सिद्ध प्रतीत होता है।

काश्यप आदिके वचनोंमें इस विषयमें जितने विधान और निषेध हैं उनमें किसी भी युगकी बातका विशेष रूपसे निर्देश नहीं है। फलतः वह सब युगोंके लिये सामान्य रूपसे विधि और सामान्य रूपसे निषेध है। इस विषयमें कलियुगका उल्लेख करके जो विधान या निषेध हैं वे कलियुगके लिये ही विशेष विधि और विशेष निषेध हैं। जब कलियुगके लिये इस विषयमें विशेष विधान अथवा विशेष निषेध स्वतन्त्र रूपसे पाया जाता है तब सामान्य विधि निषेधके साथ विशेष विधि और निषेधको एकता और अविरोध बनानेका प्रयास करना अनावश्यक है। कारण कि विशेष विधि-निषेध द्वारा सामान्य विधि-निषेधका बाध तो प्रसिद्ध ही है। अतएव इस विषयमें सब शास्त्रोंमें कलियुगका उल्लेख करके विधि अथवा निषेध किया है। उनकी एकता और अविरोध सिद्ध करनेका यत्न करना भी ठीक है। और वही विधि निषेधका ऐक्य और अविरोध सिद्ध होने पर कलियुगमें विधवा आदि स्त्रियोंका विवाह शास्त्रसे विहित है या निषिद्ध है वह भी स्थिर हो सकेगा।

प्रथम उन सब शास्त्रोंमें कलियुगमें विवाहित स्त्रीका पुनर्विवाह निषिद्ध है उसका भी ठीक प्रकारसे निर्णय हो सकेगा जैसे—आदिपुराणमें:—

ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्योष्ठांशं गोवधं तथा ॥

कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥

(पराशर भाष्य धृत)

विवाहिता स्त्रीका विवाह, ज्येष्ठांश गोवध, भाईकी स्त्रीमें पुत्रका उत्पादन करना कमण्डलूका धारण करना कलियुगमें ये पांच कर्म नहीं करने चाहिये।

क्रतुः—

देवराच्च सुतोत्पत्ति र्दत्ता कन्या प्रदीयते।

न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः ॥

देवरसे पुत्रका उत्पन्न करना, दत्ताकन्याका पुनः दान करना, यज्ञमें गोवध करना, कमण्डलूका धारण ये कलियुगमें न करने चाहिये।

बृहन्नारदीयः—

दत्तायाश्चै व कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च।

कलियुगमें दत्ता कन्याका दूसरी वार अन्य पात्रमें दान नहीं करना चाहिये।

आदित्यपुराणः—

दत्ता कन्या प्रदीयते।

कलियुगमें दत्ता कन्याका पुनः दान निषिद्ध है। इस प्रकार आदि पुराण, क्रतुसंहिता, बृहन्नारदीय और आदित्य पुराण इनमें समान्य रूपसे विवाहिता स्त्रीके पुनर्वार विवाहका निषेध दिखाई देता है * किन्तु पराशर संहितामें—

* प्रति वादी लोग दत्ता पदका विवाहिता अर्थ करनेमें बहुत चिन्तित हैं इसी कारण इस स्थानपर मैंने उनके सन्तोषके लिये दत्ताशब्दका विवाहिता अर्थ ही लिखा है।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

स्वामी प्रवासी होकर लापता हो गया हो, सन्यासी हो गया हो, नपुंसक होकर मर गया हो और जाति पतित हो गयाहो तो इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियोंका पुनर्वार विवाह शास्त्र विहित है ।

इस प्रकार पांच अवस्थाओंमें स्त्रियोंके पुनर्विवाहका विधान देखा जाता है ।

अब कलियुगमें विवाहिता स्त्रीके पुनर्वार विवाहकी विधि और निषेध दोनों पाये जाते हैं । सब वचनोंकी एकवाक्यता और अविरोध किया जाय तो हमारे मतमें इस प्रकार इसका विचार करना चाहिये कि—

आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे विवाहिता स्त्रीके विवाहका निषेध किया है । पराशरने पतिके प्रवासमें लापता हो जाने आदिकी दशाओंमें विशेषता दर्शाई है अर्थात् आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे कलियुगमें विवाहिता स्त्रीके विवाहका निषेध करते हैं किन्तु पराशरने पांच विशेष स्थल रखकर कलियुगमें विवाहिता स्त्रीके पुनर्विवाह करनेका विधान किया है,फलतः आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे निषेध रहनेपर भी पराशरके विशेष विधानके अनुसार इन पांच अवसरोंमें विवाह हो सकता है ।

इन पांचोंसे अतिरिक्त भिन्न स्थानोंमें आदि पुराण आदिका किया निषेध लागू होगा । सामान्य विधान-निषेध और विशेष विधान-निषेधका नियम ही यह होता है कि विशेष विधि निषेधसे भिन्न स्थानोंमें सामान्य विधि निषेध लागू होता है । फलतः पराशरने कलियुगमें पांच स्थलोंका उल्लेख करके विवाहिता स्त्री-

के पुनर्वार विवाहका विधान किया, वहां:इसी विधानका पालन करना होगा। उससे अतिरिक्त स्थानोंमें अर्थात् स्वामीके दुश्चरित्र, दु:शील, अथवा निर्गुण होने इत्यादि अवसरोंपर आदिपुराण आदिका किया निषेध लागू होगा अर्थात् उन २ ही स्थानों पर विवाहिता स्त्रीका पुन र्विवाह होना चाहिये कि नहीं इस रूपसे विचारा जाय तो विधान और निषेध दोनोंका अपना अवकाश रहता है। कोई भी व्यर्थ नहीं रहता। देखिये पहले तो

सतु यद्यन्यज़ातीयः पतितः क्लीव एव वा ॥
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोपि वा।
ऊढापि देया सान्यस्मै सहाभरणभूषणा ॥

(पराशर भाष्य और निर्णय सिन्धु धृत कात्यायन वचन)

जिसके साथ कन्याको विवाह दिया वह आदमी यदि अन्य जातीय हो, पतित, नपुंसक, यथेच्छाचारी, सगोत्र, दास अथवा चिर रोगी हो तो विवाहिता कन्याको वस्त्रालंकारसे भूषित करके पुनः अन्य पात्रमें दान करना चाहिये।

कुलशीलविहीनस्य पण्डादिपतितस्य च ॥
अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेशधारिणाम्।
दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढां तथैव च ॥

(उद्बाहतत्व धृत वसिष्ठवचन्)

कुल और शीलसे रहित, पतित मृगी आदि रोगसे पीड़ित, यथेच्छाचारी, चिर रोगी, अथवा वेषधारी इस प्रकारके आदमी के साथ कन्याको विवाह दिया जाय तो उसको, या सगोत्रके साथ

विवाह दी गयी कन्याको उनसे ले लिया जाय अर्थात् पुनः और दूसरे आदमीके साथ उस कन्याको विवाह देना चाहिये । *

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
(नारद संहिता द्वादश विवाद पद)

स्वामी प्रवासमें लापता हो गया हो, संन्यासी हो गया हो, जाति

---

* श्रीयुत दीन बन्धु न्यायरत्नने

कुल शील विहीनस्य पण्डादिपतितस्यच
अपस्मारिवि धर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम्
दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढ़ां तथैवच ॥

इस वचनको क्या समझकर वाग्दत्ताके बारेमें लगाया है यह मैं समझ नहीं सका। इस वचनका अर्थ यही है कि जो कुल शील विहीन, नपुंसक, पतित आदिको कन्या दे दी जाय तो कन्याको उस पुरुषसे ले लेना चाहिये अर्थात् पुनर्विवाह अन्य पुरुषके साथ कन्या को ब्याह देना चाहिये। इस प्रकार सगोत्रमें विवाही कन्याको भी ले लेना चाहिये। जहां कुलीशीला विहीनके साथ दत्तो पद है फलतः उस स्थानपर वाग्दत्ता पद समझ भी सकते हैं। परन्तु सगोत्रसे ऊढ़ा (विवाहित) कन्याको भी ले लेना चाहिये इस स्थानपर ऊढ़ा। शब्दसे क्या वाग्दत्ता समझा जायगा ? दत्ता शब्दसे तो वाग-दत्ता और विवाहिता दोनों समझे जा सकते हैं किन्तु 'ऊढ़ा शब्द किसी समय में भी विवाह संस्कृतासे भिन्न वाग्दत्ता नहीं समझा जा सकता। जब इसी वचनके एक स्थानपर स्पष्ट ऊढां शब्द पढा है तब अन्य स्थानोंपर दत्ता शब्दसे भी विवाहिता ही समझना उचित है। सुतरां, यह वचन विवाहिता स्त्रीके विषयमें ठीक संगत है, वाग्दत्ताके विषयमें ठीक प्रकारसे लग नहीं सकता। न्यायरत्न महाशयने अपने प्रकाशित किये विधवा विवाहवाद पुस्तकके प्रथम खण्डमें इस वचनका अर्थ नहीं लिखा किन्तु विधवाविवाहकी शास्त्रीयता प्रतिपादन करनेके लिये सवाद ज्ञानोदय पत्रमें जो लेख प्रकाशित किया है इसमें इस वचनको निम्न लिखित व्याख्या लिखी है जैसे—

पतित हो गया हो, या मर गया हो, इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियों-का पुनर्वार विवाह शास्त्र विहित है।

इसी प्रकार कात्यायन, वशिष्ठ, नारदने युग विशेषका कोई निर्देश न करके सामान्य रूपसे सब युगोंके लिये पतिके पतित होने, नपुंसक, लापता, कुल-शील-हीन, यथेच्छाचारी, चिररोगी, अपस्मार रोग पीड़ित, प्रव्रजित, सगोत्र, दास, अन्यज़ातीय आदि होने या मर जानेपर, विवाहिता स्त्रीको पुनर्वार विवाहकर लेनेकी आज्ञा दी है। इसके आगे भी

ऊढायः पुनरुद्वाहं ज्योष्ठांशं गोवधं तथा।
कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम् ॥

विवाहिता स्त्रीका पुनर्विवाह, ज्येष्ठका अंश, गोवध, भ्राताकी स्त्रीमें पुत्रका उत्पादान, कमण्डलुका धारण कलियुगमें ये पांच कर्म नहीं करने चाहियें।

देवराच्च सुतोत्पति र्दत्ता कन्या न दीयते।
न यज्ञो गोवधंः कार्यः कलौ न च कमण्डलूम्ः ॥

"वाग् दानके बाद वरका कुल न सुना हो, या शील न सुना हो पगड आदि दोष जाने गये हों वा पतित होना पता लगा हो, और जाना गया हो कि वर मृगी और अपस्मारी रोगसे रोगी है, या पतित है, या कोई भी रोगसे पीड़ित पता लगा, या जाना गया कि वह नट है, या सगोत्र जाना गया हो, तो उस कन्याको अन्यवरको देवे इस प्रकार इसका तात्पर्यार्थ ह।

इस स्थलमें न्यायरत्न महाशयने 'सगोत्रोढ़ा शब्दमें ऊढ़ा शब्दको छिपा-कर कवल सगोत्र इतना ही अर्थ लिख दिया। यदि भ्रममें सगोत्रोढा शब्द का सगोत्र अर्थ लिखा गया होतो विशेष दोष दिया नहीं जासकता। किन्तु यदि अपने मतलबका अर्थ सिद्ध करनेके लिये जान बूझकर ऊढा शब्दको छिपा रखा है तब यह बड़ा अन्याय किया गया है।

कलियुगमें देवरसे पुत्रका उत्पादन करना, दत्तः कन्याका दान, यज्ञमें गोवध और कमण्डलूका धारण नहीं करना चाहिये।

दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च

कलियुगमें दत्ता कन्याको अन्य पात्रमें दान करना नहीं चाहिये।

दत्ता कन्या प्रदीयते

कलियुगमें दत्ता कन्याका पुनर्दान करना निषिद्ध है।

इसी प्रकार आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे कलियुगमें विवाहिता स्त्रीका पुन र्विवाह निषेध कर दिया है। उसके बाद पराशरने:—

नष्टे मृते प्रूव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

स्वामी लापता हो गया हो, मर गया हो, संन्यासी हो गया हो, नपुंसक हो, या पतित हो, इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियोंका पुनर्वार विवाह शास्त्र विहित है।

ये पांच स्थान रखकर आदिपुराण आदिसे किये सामान्य निषेधका अपवाद किया है। अर्थात् पांच अवसरोंमें कलियुगमें विवाहिता स्त्रीके पुनर्वार विवाहकी अनुज्ञा देते हैं।

अब सब विवेचना करके देखिये, पहले कात्यायनादि संहिता कार मुनियोंके वचनोंमें कई एक स्थानोंमें सामान्य रूपसे सब युगोंमें विवाहिता स्त्रीके पुनर्वार विवाहकी अनुज्ञा थी उसके बाद आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे कलियुगमें विवाहिताके पुनर्वार विवाहका निषेध हो गया।

उसके बाद पराशर संहिताके लापता होने आदि पांच अवसरोंमें कलियुगमें विवाहिताके पुनर्वार विवाहके विषयमें विधान

हुआ है। सामान्य विशेष अवसरोंमें विधि निषेध ही बलवान होता है अर्थात् जिस जिस स्थलमें विशेष विधि या विशेष निषेध होता है उससे अतिरिक्त स्थलमें सामान्य विधि और सामान्य निषेध चरितार्थ होता है। पहले कात्यायन आदि मुनियोंने सामान्य रूपसे किसी भी युगका नाम न लेकर कई एक स्थलोंपर विवाहिताके पुनर्विवाह का विधान किया था। यही विधि सामान्य रूपसे सब युगोंमें लागू हो सकता है। किन्तु आदि पुराण आदिमें कलियुगका नाम लेकर निषेध किया गया है। फलतः यह निषेध कलियुगके लिये ही विशेष निषेध है। इस कारण कात्यायन आदिका सामान्य विधान कलियुगमें न लगकर कलियुगसे अतिरिक्त तीन युगोंमें लागू होगा। इसी प्रकार आदि पुराण आदिमें स्थल विशेषका उल्लेख न करके सामान्य रूपसे कलियुगमें एक एक अवसरोंमें विवाहिताके विवाहका निषेध था किन्तु पराशरने लापता होने आदि पांच विशेष अवसरोंका उल्लेख करके कलियुगमें विवाहिताके पुन र्विवाहका विधान किया है। फलतः पराशरका विधान, विशेष विधान है। इसी कारण आदिपुराण आदिका सामान्य निषेध लापता होने आदि पांच अवसरोंसे अतिरिक्त अन्य २ अवसरोंपर लागू होगा। अर्थात् स्वामीके पतित, नपुंसक, लापता, कुल-शील-हीन, स्वेच्छाचारी, चिररोगी, मृगी आदि रोगमें ग्रस्त, संन्यासी, मृत, सगोत्र, दास, और अन्य जातीय इत्यादि होनेकी अवस्थाओंमें से लापता, मृत, संन्यासी, नपुंसक, पतित इन पांच अवसरोंमें पराशरका विशेष विधान लगाना चाहिये। उनसे भिन्न अवसरोंमें अर्थात् कुलशील हीन, यथेच्छाचारी, चिररोगी, मृगी आदिके रोगी, सगोत्र, दास, अन्यजातीय इत्यादि स्थानोंमें आदिपुराण आदिका सामान्य निषेध ही लागू होगा।

सामान्य विशेष विधान निषेधके अवसरमें सर्वत्र इसी प्रकार की व्यवस्था देखनेमें आती है । जैसे

अहरहः सन्ध्यामुपासीत ।

प्रतिदिन सन्ध्या वन्दन करे ॥

इस स्थानपर वेदमें सामान्यतः सन्ध्यावन्दनका स्पष्ट विधान है । किन्तु—

संध्यां पञ्च महायज्ञान् नैत्यिकं स्मृतिकर्म च ।
तन्मध्ये हापयेत्तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया, ॥

(शुद्धितत्वधृत जाबालिवचन)

अशौचमें संध्यावन्दन, पंच महायज्ञ, और स्मृति विहित नित्यकर्म न किये जांय, अशौचके वाद पुनः किये जांय ।

इस स्थानपर अशौच कालमें संध्यावन्दनका निषेध करते हैं । देखिये ! वेदमें सामान्य रूपसे प्रतिदिन संध्यावन्दनका विधान रहते हुए भी जाबालिके विशेष निषेधसे अशौच कालके दश दिनोंमें सन्ध्यावन्दन रहित ही रहा जाता है । अर्थात् जाबालिके विशेष निषेधसे अशौच कालके दशदिनोंको छोड़कर उनसे अतिरिक्त अवसरोंमें वेदमें कहे प्रति दिन सन्ध्यावन्दनका विधान ही लागू रहेगा । और भी कि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०७॥

(मनु० सं० अ० २)

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा, वैश्य, प्रातः काल और सायं-काल, संान्ध्यावन्दन न करे उसके शूद्रके समान, समस्तद्विज-कार्योंसे निकाल बाहर कर दिया जाना चाहिये । और

संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते द्वादश्यां श्राद्धवासरे।
सायं सन्ध्यां न कुर्वीत कृते च पितृहा भवेत्॥
(तिथितत्वधृतव्यासवचन)

संक्रान्ति, पूर्णिमा, अमावस्या और श्राद्धके दिन सायंकालमें संध्यावन्दन नहीं करना चाहिये। करे तो पितृहत्याके पापका भागी होगा।

देखिये, मनुसंहितामें प्रातःकाल और सायंकाल संन्ध्या-बन्दन करनेका नित्य विधान है और उसके न पालन करनेपर स्मृतिमें उसको दोष लिखा है। तो भी व्यासके विशेष निषेधके द्वारा संक्रान्ति आदिके अवसरपर सांयं सन्ध्या नहीं करना होता। अर्थात् व्यासके विशेष निषेधके अनुसार संक्रात्ति आदिसे अति-रिक्त दिनोंमें सायंसन्ध्याकी सामान्य विधि चरितार्थ होती है।

वेदमें निषेध है किः—

मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

किसी जीवकी प्राण हिंसा न करो।

अश्वमेधेन यजेत।

अश्वबधकरके यज्ञ करो।

पशुना रुद्रं यजते।

पशु बध करके रुद्रयाग करो।

अग्निषोमीयं पशुमालभेत।

पशु बध करके अग्नि और सोम देवताका कार्य करो।

देखिये! वेदमें सामान्य रूपसे जीवहिंसाका स्पष्ट निषेध होनेपर भी अन्यान्य अवस रोंपर विशेष विधिद्वारा यज्ञमें पशु हिंसा

दोष जनक नहीं होती अर्थात् विशेष विधानके बलसे अश्वमेध, रुद्रयाग आदिसे भिन्न स्थानोंपर जीव-हिंसाका सामान्य निषेध चरितार्थ होता है। इसी कारण भगवान् मनुने कहा है:—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥

मध्युपर्क, यज्ञ, पितृकर्म, देवकर्म इन कुछ एक स्थानोंपर पशु हिंसा करनी चाहिये, अन्यत्र नहीं।

अर्थात् इन कई एक विषयोंमें पशु हिंसाका विशेष विधान है अतएव इन कुछ एक स्थानोंमें पशुहिंसा करे, इनसे अतिरिक्त स्थानोंमें जीवहिंसाके सामान्य निषेध शास्त्रके अनुसार पशुहिंसा न करे। देखिये, जिस प्रकार इन सब स्थानोंपर सामान्यरूपसे स्पष्टविधान और स्पष्ट निषेध रहते हुए भी विशेष विधि और विशेष निषेधके अनुसार विशेष स्थानोंपर कार्य करना होता है इसी प्रकार उनसे अतिरिक्त स्थानोंपर सामान्य विधि और सामान्य निषेध भी लागू होता है। उसी प्रकार सामान्य रूपसे कलियुगमें विवाहिताके पुनर्विवाहका निषेध रहनेपर भी पराशरके विशेष विधानके अनुसार पतिके लापता हो जाने आदि पाँच अवसरोंपर विवाहिताका पुनर्विवाह शास्त्र विहित हो जाता है। आदि पुराण आदिमें सामान्य रूपसे निषेध है, पराशर संहितामें पांच स्थानोंका उल्लेख करके विशेष विधान है, फलतः इन पांचा अवस्थाओंके अतिरिक्त अवसरोंमें विवाहका निषेध चरितार्थ होगा। इस विषयमें सब वचनोंकी संगति और अविरोध किया जायगा तो इस प्रकारकी मीमांसा करना सब अंशोंमें संगत और युक्तियुक्त प्रतीत होगा।

——::०::——

दूसरा परिच्छेद

पराशर वचन

—:-०-:—

कलियुगकी बात, दूसरे युगकी बात नहीं।

माधावचार्यने पराशर संहिताके विधवादि स्त्रियोंके विवाह-के प्रति पादक वचनोंकी व्याख्या लिखकर अन्तमें कहा है—

अयं च पुनरुद्वाहो युगान्तरविषयः। तथा चादिपुराणम्।

ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा।

कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥ इति।

पराशर का यही पुनर्विवाह का विधान अन्य युगके लिये किया होना चाहिये क्योंकि आदि पुराण कहता है कि विवाहिता-का पुन र्विवाह, ज्येष्ठांश, गोवध, भ्रातृभार्यामें पुत्रका उत्पादन करना, और कमण्डलूका धारण करना, कलिमें ये पांच काम न करे।

अब यह विवेचना करना आवश्यक है कि माधवाचार्यने यह जो व्यवस्था की है यह संगत है कि नहीं। इस स्थान पर पराशर संहिताका उद्देश्य क्या है, संहिताका अभिप्राय और माधवाचार्य के आभास और तात्पर्य व्याख्यासे उसका ही निर्णय करना सबसे पहले आवश्यकीय प्रतीत होता है।

संहिता—अथातो हिम शैलाग्रे देवदारु वनालये।

व्यासमेकाग्रमासीनमपृच्छन् ऋषयः पुरा॥

मानुषाणां हितं धर्म वर्त्तमाने कलौ युगे।

शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुत॥

इसके बाद इसी कारण ऋषि लोग पूर्व कालमें हिमालय पर्वतके शिखरपर देवदारु बनमें अपने आश्रममें एकाग्रमन होकर बैठे हुए व्यासदेवसे पूछने लगे, हे सत्यवती नन्दन! अब कलियुग है, इस युगमें कौन धर्म, कौनसा शौच और कौनसा आचार मनुष्यका हितकर है वह आप यथावत् रीतिसे वर्णन कीजिये।

भाष्य—वर्त्तमाने कलाविति विशेषणात् युगान्तरधर्मज्ञानानन्तर्यम्।

अथ "अन्ततर"। इस शब्दका अर्थ यही है कि अन्ययुग जो सत्य त्रेता, और द्वापरके धर्म जान लेनेके अनन्तर ऋषि लोगोंने कलि धर्मके विषयमें प्रश्न किया है।

भाष्य—अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्मादेकदेशाध्यायिनो नाशेषधर्मज्ञानं

यस्माच्च युगान्तर धर्ममवगत्य न कलिधर्मावगतिस्तस्मादिति।

अतः इसका अर्थ यह है कि क्यों कि शास्त्रका एक देश पढ़ने से समस्त धर्मका ज्ञान नहीं होता और अन्य २ युगोंको धर्म जान लेने पर भी कलि धर्म नहीं जाना जाता 'इस हेतु' ऋषियोंने प्रश्न किया।

इससे यह साफ प्रतीत होता है कि कलियुगका आरम्भ होने पर ऋषि लोगोंने सत्य, त्रेता और द्वापर इन तीन युगोंका धर्म ज्ञात होने पर शेष कलियुगका धर्म जाननेकी इच्छासे व्यासदेवके निकट आकर कलि धर्मके विषयमें प्रश्न किया।

संहिता—तत्श्रुत्वा ऋषिवाक्यं तु सशिष्योऽग्न्यर्कसंन्निभः।

प्रत्युवाच महातेजाः श्रुतिस्मृतिविशारदः॥

न चाहं सर्वतत्वज्ञः कथं धर्मं वदाम्यहम्।

अस्मत् पितैव प्रष्टव्य इति व्यासः सुतोऽवदत्॥

शिष्य मण्डलीसे घिरा हुआ अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी श्रुति और स्मृतिमें विशारद महातेजा व्यासने ऋषियोंका वह वाक्य सुनकर कहा, मैं सब विषयोंका तत्व नहीं जानता, धर्म क्या है इस विषयमें हमारे पितासे ही प्रश्न पूछना चाहिये। पुत्र व्यासने यह बात कही।

भाष्य—"न चाह मिति वदतो व्यासस्यायमाशयः सम्प्रति कलिधर्मा पृच्छ्चन्ते, तत्र न तावदहं स्वतः कलिधर्मतत्वं जानामि, अस्म त्पितुरेव तत्र प्रावीण्यात्। अतएव कलौ पाराशराः स्मृता इति वक्ष्यते यदि पितृप्रसादान्ममतदभिज्ञानं तर्हिं स एव पिता प्रष्टव्यः। नहि मूलवक्तरि विद्यमाने प्रनाड़िका युज्यते इति।"

"मैं सब विषयोंका तत्वज्ञ नहीं" व्यासदेवके यह बात कहनेका अभिप्राय यह है कि आप लोग अब कलिके धर्म पूछते हैं। किन्तु मैं स्वयं कलि धर्म नहीं जानता। इस विषयमें हमारे पिता ही प्रवीण हैं। इसलिये "कलौ पाराशराः स्मृताः" अर्थात् पराशरके बनाये धर्म ही कलियुगमें धर्म हैं यह आगे कहेंगे। जब मैं पिताके प्रसादसे कलिधर्म जानता हूं तब उस पितासे ही पूछना चाहिये। मूल वक्ताके विद्यमान रहते हुए परम्परा स्वीकार करना ठीक नहीं है।

माष्य—एव कारेणान्यस्मर्त्तारो व्यावर्त्त्यन्ते । यद्यपि मन्वादयः कलि-
धर्माभिज्ञा तथापि पराशर स्तस्मिन् विषये तपोविशेषबलात्
असाधरणः कश्चिदतिशयो द्रष्टव्यः । यथा काण्वमाध्यन्दिन
काठक कौथुमतैत्तिरीयादिशाखासु काण्वादीनामसाधार-
णत्वं तद्वदत्रावगन्तव्यम् । कलिधर्म सम्प्रदायोपेतस्पापि परा-
शरसुतस्य यदा सद्धर्मरहस्याभिवदने संकोचः तस्मात् किमु
वक्तव्यमन्येषामिति ।

हमारे पितासे ही पूछना चाहिये यह कहनेसे अन्य स्मृति कारोंका निवारण हो जाता है। यद्यपि मनु आदि कलि धर्मके जानने वाले हैं तथापि तपस्या विशेषके प्रभावसे कलि धर्मोंके विषयमें पराशर सबसे अधिक प्रवीण हैं। जिस प्रकार काण्व माध्यन्दिन, काठक, कौथुम तैत्तिरीय आदि शाखाओंमें काण्व, आदि कुछ एककी प्रधानता है उसी प्रकार कलि धर्मोंके विषयमें समस्त स्मृतिकारोमेंसे पराशरका प्राधान्य है व्यासदेव कलिधर्म-सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं तो भी जब पराशरके होते हुए स्वयं कलि धर्मोंके कहनेमें संकोच करते हैं तब अन्य ऋषियोंकी तो कथा ही क्या कही जाय।

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि पराशर कलि धर्मोंके विषय में सब स्मृतिकारोंकी अपेक्षा अधिक प्रवीण हैं और पराशर स्मृति कलिधर्मोंके निरूपण करनेमें प्रधान शास्त्र है।

संहिता—यदि जानासि मे भक्तिं स्नेहाद्वा भक्तवत्सल ।
धर्मं कथय मे तात अनुग्राह्योह्यहं तव

हे भक्त वत्सल पिता ! यदि आप हमें भक्त जानते हैं अथवा आपका हमारे ऊपर स्नेह है तब हमें धर्मका उपदेश कीजिये। हम पर आपको अनुग्रह करना चाहिये।

इस प्रकार व्यासदेवने धर्म जाननेके लिये पितासे प्रश्न किया।

भाष्य—ननु सन्ति बहवो मन्वादिभिः प्रोक्ताः धर्माः, तत्र को धर्मो भवता बुभुत्सित इत्याशंक्य बुभुत्सितं परिशेषयितुमुपन्यस्यति।

संहिता—श्रुताmे मानवा धर्मा वाशिष्ठाः काश्यपा स्तथा।
गार्गेया गौतमीया श्च तथा चौशनसाः स्मृताः॥
अत्रेर्विष्णोश्च संवर्त्ता द्दक्षादगिंरसस्तथा।
शातातपाश्चहारीता याज्ञवल्क्यास्थैव च॥
आपस्तम्बकृता धर्मा शंखस्य लिखितस्य च।
कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः॥
श्रुताह्येते भवत्प्रोक्ता श्रुतार्था मे न विस्मृताः।
अस्मिन् मन्वन्तरे धर्माः कृतत्रेताादके युगे॥

मनु आदिके कहे अनेक धर्म है उनमेंसे तुम कौनसे जाना चाहते हो। पराशरने यह प्रश्न किया। इस अशंकासे व्यासने जाननेके योग्य धर्मकी बात अन्तमें कहनेके लिये पहले ज्ञात धर्मोंकी बात कहना प्रारम्भ किया।

मैंने आपके निकट मनु, वसिष्ठ, काश्यप, गर्ग, गौतम, उशना अत्रि, विष्णु, संवर्त्त, दक्ष, अंगिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य आपस्तम्ब, शंख, लिखित, कात्यायन, और प्राचेतस, इनके कहे

धर्म श्रवण किये हैं। जो श्रवण किये थे वे भूले नहीं वे सब सत्य, त्रेता और द्वापर इन तीन युगोंके धर्म हैं।

भाष्य—इदानीं परिशिष्टं बुभुत्सितं पृच्छति।

संहिता—सर्वे धर्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे॥
चातुर्वर्ण्य समाचारं किंञ्चित्साधारणं वद॥

अब व्यासजी ने जिन धर्मोंको जानना चाहा उनके विषयमें पूछते हैं।

सब धर्म सत्ययुगमें उत्पन्न हुए। कलियुगमें सब धर्म नष्ट हो गये, इसलिये अब चारों वर्णोंके समस्त धर्म कुछ कुछ कहिये।

भाष्य—विष्णुपुराणे—

वर्णाश्रमा चारवती प्रवृत्तिष्तु कलौ नृणाम्।

आदिपुराणेऽपि—

यस्तु कार्त्त युगे धर्मो न कर्त्तव्यः कलौयुगे।
पापप्रसक्ताश्च यतः कलौ नार्यो नरास्तथा॥

विष्णु पुराणमें कहा है कलियुगमें मनुष्यके चार वर्णों और चार आश्रमोंके विहित धर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति नहीं है।

आदि पुराणमें कहा है—सत्ययुगमें जो धर्म विधान किये गये हैं कलियुगमें उन धर्मोंका पालन नहीं किया जा सकेगा क्या स्त्री क्या पुरुष सभी पापमें आसक्त हो गये हैं।

कलियुगमें कष्टसाध्य धर्म है मनुष्योंकी प्रवृत्ति होना असम्भव है। इस कारण पराशर संहितामें अनायास साध्य धर्मोंका निरूपण करना ही इष्ट है।

इससे यह बात बहुत साफ प्रतीत होती है कि मनुआदिके

कहे हुए धर्म सत्य त्रेता, और द्वापर युगमें धर्म हैं। कलियुगमें समस्त धर्मोंका अनुष्ठान करना असाध्य है, इस कारण व्यासदेवने पराशरसे कलियुगमें अनायास पालन होने योग्य धर्मोंके विषयमें प्रश्न किया।

संहिता—व्यासवाक्यावसाने तु मुनिमुख्यः पराशरः।

धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात्॥

व्यासके वाक्य समाप्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ पराशरने धर्मके सूक्ष्म और स्थूल निर्णयको विस्तारसे कहना प्रारम्भ किया।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यासदेवजीकी प्रार्थना सुनकर पुत्रवत्सल पराशरने कलियुगके धर्म कहने प्रारम्भ किये।

संहिता—पराशरेण चाप्युक्तं प्रायश्चित्तं विधीयते।

पराशरके कहे प्रायश्चित्तोंका विधान किया जाता है।

भाष्य—पराशरग्रहणन्तु कलियुगाभिप्रायं सर्वेष्वपि कल्पेषु पराशरस्मृतेः कलियुग धर्मेकगामित्वात् प्रायश्चित्तेष्वपि कलिविषयेषु पराशरः प्राधान्येनादरणीयः।

कलियुगके अभिप्रायसे पराशरका नाम लिया गया है। क्योंकि सब कल्पोंमें केवल कलियुगके धर्मोंका निरूपण करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है कलियुगके प्रायश्चित विषयमें पराशरको प्रधान मानना चाहिये।

इससे निःसंदेह यह विदित होता है कि कलियुगके धर्म बतलाना ही पराशरका उद्देश्य है। कलियुगके धर्मोंके विषयमें अन्यान्य मुनियोंकी अपेक्षा पराशरका ही मत प्रधान है।

अब आप स्थिर चित्तसे विचारकर देखिये कि पराशरके जो

कुछ एक वचन और माधवाचार्यके कुछ एक आभास और तात्पर्य व्याख्याके उद्धरण दिये गये हैं उनके अनुसार केवल कलियुगके धर्म बतलाना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है यह बात साफ़ मालूम होती है कि नहीं।

इस प्रकार जब कलियुगके ही धर्मोंको बतलाना पराशर संहिताका उद्देश्य स्थिर हुआ तब इस संहिताका आदिसे लेकर अन्त तक समस्त ग्रन्थ भाग कलि धर्मका निर्णय करता है यह बात अवश्य स्वीकार करनी होगी। और तो समस्त ग्रन्थको कलिधर्मका निर्णय करनेवाला मान कर केवल स्त्रियोंके पुनर्विवाह विधायक वचनको दूसरे युगके विषयमें बतलाना किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता। खासकर जब कलियुगके आरम्भ हो जानेके उपरान्त ऋषि लोगोंने सत्य, त्रेता, और द्वापर युगमें धर्मोंको जानकर .कलियुगके धर्म और आचारके विषयमें प्रश्न किया तब पराशरने आद्योपान्त कलियुगके धर्मोंका निरूपण करके उनके बीचमें एक गुज़रे हुए युगका एक धर्म कहा होगा यह कैसे संगत हो सकता है। इसीलिये पराशरने विधवा आदियोंके पुनः विवाहका भी केवल कलियुगके लिये ही विधान किया है। इसमें कोई संशय नहीं। इससे पूर्व जिस प्रकार बतलाया गया है तदनुसार माधवाचार्यने भी स्वयं पराशरके वचनका आभास देकर उसके तात्पर्यकी व्याख्या करके केवल कलियुगके धर्म निरूपण करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है यही निर्णय किया है। फलतः, जो संहिताकारका अभिप्राय नहीं और माधवाचार्य और उनके अपने लिखे आभास और तात्पर्य व्याख्याके भी अनुकूल नहीं, ऐसी व्यवस्थाको किस प्रकार संगत कहा जा सकेगा।

माधवाचार्यने विवाह, ब्रह्मचर्य और सहमरणके विषयमें तीन

वचनोंका आभास दिया है। विवाह विधायक वचनको अन्य युग-की बात कहने पर ये तीन आभास किसी प्रकार मेल नहीं खायेंगे । जैसे—

किसी किसी स्थानमें स्त्रियोंका पुनर्वार विवाहका विधान देखा जाता है । जैसे स्वामी लापता हो जाय इत्यादि ।

पुनर्वार विवाह न करके ब्रह्मचर्य व्रतके पालनमें अधिक फल दिखाया गया है। जैसे जो नारो स्वामोकी मृत्यु होनेपर इत्यादि ।

ब्रह्मचर्याकी अपेक्षा सहमरणमें अधिक फल दिखाया है जैसे मनुष्य शरीरमें इत्यादि ।

माधवाचार्यने जिस प्रकारसे व्यवस्था की है तदनुसार विवाह अन्य २ युगोंका धर्म हैं, केवल ब्रह्मचर्या पालन और सहमरण यह कलियुगका धर्म है । सुतरां सहमरणका विधान करनेवाले और वचनोंके साथ विवाह विधायक वचनोंका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थात् पराशरने स्त्रियोंके लिये पुनः विवाहका जो विधान किया हैं बह ता पहले २ युगोंके लिये और कलियुगकी विधवाओंके लिये केवल ब्रह्मचर्य और सहमरणका विधान किया है। यदि अन्ययुगके लिये व्यवस्था करके माधवाचार्यने विधवा-ओंके लिये पुनर्विवाहका अवकाश ही नहीं रखा तो पुनर्वार विवाह न करके ब्रह्मचर्य व्रतके पालनमें फल अधिक होता है इस प्रकार ब्रह्मचर्य विषयक वचनका यह उद्धरण किस प्रकार संगत हो सकेगा। माधवाचार्यके मतमें विवाह तो अन्ययुगका धर्म है। फलतः कलियुगमें पुनः विवाह न करके ब्रह्मचर्य करनेसे अधिक फल है यह बात हो जाती है। स्त्रियोंका पुनर्विवाह करना शास्त्र विहित है। पुनर्विवाह न करके ब्रह्मचर्य करे तो अधिक फल होता है सहमरणमें ब्रह्मचर्यसे भी अधिक फल है; इन तीन बातों-

का परस्पर जिस प्रकारसे सम्बन्ध दीखता है इससे इसमें संन्देह नहीं रहता कि ये तीनों एक ही युगकी बाते' है। इसलिये यदि पुनः वार विवाहको कलियुगका धर्म न कहकर दूसरे युगका धर्म कहते हो तो ब्रह्मचर्य और सहगमनको भी अन्य युगका धर्म लाचार होकर मानना होगा और ब्रह्मचर्य और सहगमनको कलिधर्म मानें तो पुन विवाहको भी कलिधर्म ही लाचार होकर स्वीकार करना होगा। नहीं तो इस प्रकार परस्पर विषयोंमें से एकको तो अन्य युगका विषय मानना और दो को कलियुगका कहना नितान्त असम्बद्ध हो जाता है। फलतः माधवाचार्यने विवाह विधिको अन्य युगका धर्म मान कर व्यवस्था करने के लिये जो इतनी व्यग्रता दिखलाई है वह संहिताकार ऋषिका अभिप्राय होना तो दूर रहा आपने जो दूसरे शास्त्रका प्रमाण भी उठा कर रखा वह भी आगे और पीछेके प्रकरणसे जुड़ता है कि नहीं यह भी स्वयं आगा पीछा मिलाकर नहीं देखा।

माधवाचार्यने स्वयं लिखा है कि कलियुगमें मनुष्योंकी कष्ट साध्य कर्ममें प्रवृत्ति होना असम्भव है इस कारण पराशर संहितामें अनायास साध्य धर्मोंका निरूपण करना ही अभिप्रेत है। पराशरने भी विवाहको अनायास साध्य समझ कर सर्वसाधारण विधवाके लिये सबसे पहले विवाहकी आज्ञा दी है। उसके बाद ब्रह्मचर्यको विवाहकी अपेक्षा अधिक कष्ट साध्य जानकर जो नारी ब्रह्मचर्यका पालन करेगी वह स्वर्ग जायगी यही कहकर ब्रह्मचर्य निर्वाहमें समर्थ स्त्रीके लिये ब्रह्मचर्यकी आज्ञा दी है। सह मरणको सबसे अधिक कष्ट साध्य समझ कर जो नारी सह-मरण करेगी वह अनन्त कालतक स्वर्गमें वास करेगी यह कह कर सबसे अन्तमें सह मरण करनेमें समर्थ स्त्रीके लिये सहमरण की आज्ञा दी है। किन्तु माधवाचार्यने अनायास-साध्य विवाह

धर्मको अन्य युगका बतलाकर व्यवस्था कर दी है और शेष कष्ट साध्य धर्मोंको कलियुगके लिये रख छोड़ा है। अब सब विवेचना करके देखिये कि कलियुगमें मनुष्योंको कष्ट साध्य धर्ममें प्रवृत्ति होना असम्भव है इसी कारण पराशर संहितामें अनायास साध्य धर्मोंका निरूपण करना अभिप्रेत हैं ऐसा माधवाचार्यका लिखना किस प्रकार संगत हो सकता है। क्योंकि जो कलियुगमें लोगोंका सामर्थ्य है वह पूर्व २ युगोंकी अपेक्षा कितने सैंकड़ा अंश कम हो गया है। कष्ट साध्य दो धर्मोंको उसी कलियुगके लिये रख छोड़ा और अनायास साध्य धर्म अन्य युगके लिये हें कलियुगके लिये नहीं ऐसी व्यवस्था की है!

यह बड़ी विचित्र बात है कि पूर्व पूर्व युगमें जब लगोंको सामर्थ्य अधिक था तब तो वे अनायास साध्य धर्मोंके अधिकारी थे और अब उन ही अनायास साध्य धर्मोंमें कलियुगके असमर्थ रूप अधिकारी नहीं रहे। वस्तुत: जब कलियुगके लोग पूर्व २ युगके लोगोंकी अपेक्षा सामर्थ्यमें बहुत कम हो गये, फल यह हुआ कि कष्ट साध्य धर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति होना असम्भव हो गया। और जब पराशरने कलियुगके धर्म लिखने प्रारम्भ किये और सब से प्रथम सर्वसाधारण विधवा स्त्रियोंके लिये सबसे अधिक अनायास साध्य विवाह धर्मकी अनुज्ञा दी तब विवाह धर्म ही कलियुगकी विधवाओंके लिये अभिप्रेत नहीं, ऐसी व्यवस्था किसी प्रकार भी युक्ति संगत नहीं और संहिताकारके अभिप्रायके अनुसार भी नहीं हो सकती।

पराशरके वचनोंका अन्ययुगके लिये होनेकी व्यवस्था संहिता कारके अभिप्राय से विरुद्ध है यह बात भट्टोजी दीक्षितके लेखसे भी स्पष्ट प्रमाणित होती है। जैसे—

न च कलिनिषिद्धस्यापि युगान्तरीय धर्मस्यैव नष्टे मृते प्रव्र-

जिते इत्यादि पराशरवाक्यं प्रतिपादकमितिवाच्यं कलावनुष्ठेयान् ध-र्मानेव वक्ष्यामि इति प्रतिज्ञाय तद् ग्रन्थप्रणयनात्।

"नष्टे मृते" इस पराशर वचन द्वारा कलिकालमें निषिद्ध युगान्तर धर्मका ही विधान किया गया है यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि कलियुगमें पालन करने योग्य धर्मही कहूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके पराशर संहिताका संकलन किया गया है।

माधवाचार्यकी अन्य युगके विषयकी व्यवस्था संहिताकारके अभिप्रायके विपरीत और अपने ही आप दिये अन्य शास्त्रोंके प्रमाणोंके भी विपरीत है, इसमें कोई संशय नहीं रह जाता है। अब उन्होंने जिन प्रमाणोंका आश्रय लेकर यह व्यवस्था की है उनकी भी सबलता और निर्बलताकी विवेचना करना आवश्यक है। तभी यह व्यवस्था कितनी दूरतक संगत हैं यह बात साफ पता लग जायगी।

विवाहका विधान करनेवाले पराशरके वचन और और युगोंके लिये हैं कलियुगके लिये नहीं हैं संहिताके अभिप्राय या वचनके अर्थ या तात्पर्य्य द्वारा यह समर्थित नहीं कर सकते। माधवाचार्यने केवल आदिपुराणके एक वचनका अवलम्बन करके यह व्यवस्था कर दी है। उनका यही अभिप्राय विदित होता है कि यद्यपि पराशर संहिता कलियुगका धर्मशास्त्र है और यद्यपि उसमें विधवा आदि स्त्रियोंके लिये पुनः विवाहका विधान भी है किन्तु आदिपुराणमें कलियुगमें विवाहिता स्त्रीका पुनर्विवाह निषिद्ध देखा गया है। अतएव पराशरने इस विधिको कलियुगके लिये न कहकर अन्य युगके लिये कहा होगा। किन्तु इससे तो आपत्ति और उपस्थित हो गयीं। (१) प्रथम तो यह कि आदिपुराणका नाम देकर यह वचन उद्धृत किया है। आदि-

पुराणका आदिसे अन्ततक पाठकर जाइये यह वचन न पाइयेगा। खासकर आदिपुराण जिस रीतिसे संकलित किया गया है इस रीतिसे तो यह वचन उसमें आना ही असम्भव है। फलतः माधवाचार्यका उद्धृत यह वचन निर्मूल निराधार मालूम होता है। निराधार वचनका आश्रय लेकर जो व्यवस्था की जाय वह किस प्रकारसे प्रामाणिक हो सकती है (२) दूसरे, यदि इस वचनको आदिपुराणका मान भी लिया जाय तो भी पराशरके वचनको संकुचित कर देना ठीक काम नहीं है। पहले तो पराशर संहिता २ है और आदिपुराण पुराण है। प्रथम लेखमें यही विशेष रूपसे बतला दिया गया है कि स्मृति और पुराणमें परस्पर विरोध उपस्थित हो जाय तो स्मृति बलवती होती हैं। अर्थात् उस स्थानमें पुराणका मत ग्रहण न करके स्मृतिका मत ही स्वीकार किया जाता है। तदनुसार पुराणका वचन देखकर स्मृतिके वचनका संकोच नहीं किया जा सकता। दूसरे, यह जिस प्रकार दिखाया गया है तदनुसार सामान्य विशेष व्यवस्था करने पर आदिपुराणके वचनानुसार पराशरके वचनका संकोच न होकर पराशरके वचनके अनुसार आदिपुराणके वचनका ही संकोच करना ठीक, संगत और युक्ति-अनुकूल विदित होता है। आदिपुराणका वचन सामान्य शास्त्र है। सामान्य शास्त्र द्वारा विशेष शास्त्रका बाध या संकोच न होकर विशेष शास्त्र द्वारा सामान्य शास्त्रका बाध या संकोच हुआ करता है।

इसलिये देखिये, माधवाचार्यने पराशरके विवाह विधानको दूसरे युगका कहकर जो व्यवस्था की है वह प्रथम तो (१) संहिताकारके अभिप्रायके विपरीत है। दूसरे (२) स्वयं जो प्रमाण लिखा है उसके विरुद्ध होता है। तीसरे (३) जिस प्रमाणका आश्रय लेकर यह व्यवस्था की हैं वह निराधार है।

चौथे, (४) इस प्रमाणको साधारण भी मान लें तो स्मृति और पुराणके विरोध होनेके अवसरमें स्मृति प्रधान है यह व्यासकृत मीमांसाके विरुद्ध पड़ता है। पांचवें (५) विशेषशास्त्र द्वारा सामान्य शास्त्रका बाध होता है इस सर्व सम्मत मीमांसाका भी विरोध हो जाता है। फलतः दूसरे युगके लिये यह व्यवस्था सर्वथा असंगत सिद्ध हो जाती है।

अब एक यही आपत्ति उपस्थित हो सकती है कि माधवाचार्य बड़े प्रधान पण्डित थे, इस लिये वे जो अवस्था कर गये वह संगत है कि असंगत इस बातकी विवेचना न करके उसको स्वीकार कर लेना चाहिये। इस विषयमें यही कहना है कि माधवाचार्य प्रधान पण्डित भी हैं और सब प्रकारसे मान्य भी हैं, किन्तु वे भी भ्रम और प्रमादसे शून्य नहीं थे और उनकी लिखी सब व्यवस्थाएं वेदकी तरह प्रमाण भी नहीं है। जिस जिस स्थानपर उनकी की हुई व्यवस्था असंगत सिद्ध होती है उसी २ स्थलमें उनके बादके ग्रन्थकारोंने उनकी व्यवस्थाका खण्डन किया है। जैसे

य त्तु माधवः यस्तु वाजसनेयी स्यात्तस्य सन्धि दिनात्पुरा। नक्वाप्यन्वाहितः किन्तु सदा सन्धिदिने हि सा। इत्याह तत्कर्क भाष्य देवयानी श्रीअनन्तभाष्यादि सकलतच्छाखीयग्रन्थविरोधाद्बहुत्व-नादराच्चोपेक्ष्यम् ॥

(निर्णय सिन्धु प्रथम परिच्छेद इष्टि निर्णय प्रकरण)

माधवाचार्यने जो कहा सो मानने योग्य नहीं। क्योंकि कर्कभाष्य, देवयानी श्री अनन्त भाष्य, आदि वाजसनेयी शाखाके समस्त ग्रन्थकारोंके मतसे विरुद्ध है और अनेकोंने उसका अनादर किया है।

"माधवस्तु सामान्य वाक्यान्निर्णयं कुर्वन् भ्रान्त एव।
(नि० सि०। २। भाद्रनि०)

माधवाचार्य सामान्य वाक्यके अनुसार निर्णय करते हुए भ्रान्तिमें पड़ गये हैं।

कृष्णा पूर्वोत्तरा शुक्ला दशम्येवं व्यवस्थितेति माधवः वस्तुतस्तु मुख्या नवमीयुतैव ग्राह्या दशमी तु पूकर्त्तव्या सदुर्गा द्विजसत्तमेत्यापस्तम्बोक्तेः।

(निर्णय सिन्धु। परि० २ एकादशी निर्णय)

माधवाचार्यने यह व्यवस्था की किन्तु उनकी की व्यवस्था ग्राह्य नहीं इस प्रकारकी व्यवस्था ग्रहण करने योग्य है।

ननु मासि चाश्वयुजे शुक्ले नवरात्रे विशेषतः। सम्पूज्य नव दुर्गांच नक्तं कुर्यात्समाहितः। नवरात्राभिधं कर्म नक्तव्रतमिदं स्मृतम्। आरम्भे नवरात्रस्येत्यादि स्कान्दात् माधवोक्तेश्च नक्तमेव पूधानमिति चेत् न नवरात्रोपवासतः इत्यानुदेपरनुपत्तेः।

(निर्णयसिन्धु। परि० २। आश्विन निर्णय)

यदि कहें स्कन्दपुराणमें है और माधवाचार्यने ये भी कहा है इसलिये यही व्यवस्था उत्तम है तब तो अन्यान्य शास्त्रोंकी उपपत्ति नहीं होगी।

अत्र यामत्रयादर्वाक् चतुर्दशीसमाप्तौ तदन्ते तदूर्ध्वजामिन्यान्तु प्रातस्तिथिमध्य एवेति हेमाद्रिमाधवादयो व्यवस्थामाहुः। तन्न तिथ्यन्ते, तिथिभान्ते वा पारणं यत्र चोदितम्। यामत्रयोर्ध्वगामि-

न्यां प्रातरेव हि पारणेत्यादि सामान्यवचनैरेव समयविधिवाक्यवैयर्थ्यस्य दुष्परिहारत्वात् ।

(निर्णयसिन्धु परि० २ । फाल्गुन निर्णय)

हेमाद्रि माधवाचार्य आदिने यह व्यवस्था स्थिर की है किन्तु वह मानने योग्य नहीं है। क्योंकि दोनों प्रकारके वाक्योंकी व्यर्थताका निवारण करना कठिन हो जाता है।

नच यदि प्रथम निशायामेकतरवियोगस्तथापि ब्रह्मवैवर्त्तादिवचनाद्दिवापारणं अनन्तभट्टमाधवाचार्योक्तं युक्तमितिवाच्यं न रात्रौ पारणां कुर्यादृते वै रोहिणीव्रतात् । निशायां पारणां कुर्यात् वर्जयित्वा महानिशामिति संवत्सर प्रदीपधृतया न रात्रौपारणां कुर्यादृते वैरोहिणीव्रतात् । अत्रनिश्यपि तत्कार्यं वर्जयित्वा महानिशामिति ब्रह्माण्डोक्तस्य च निर्विषयत्वापत्तेः ।

(तिथितत्व—जन्म न्ष्टमी प्रकरण)

यदि कहें कि अनन्तभट्ट और माधवाचार्यकी व्यवस्था ठीक है तो अन्य शास्त्र निरवकाश हो जांयगे अर्थात् उनके लिये और कोई स्थान चरितार्थ होनेके लिये नहीं रह जायगा।

देखिये कमलाकर भट्ट और स्मार्त्त भट्टाचार्य रघुनन्दनने जिन २ स्थानोंमें माधवाचार्यकी व्यवस्थाको असंगत जाना है उन २ स्थानोंमेंप्रमाण दिखला २कर उनके वचनोंका खण्डन किया है। फलतः माधवाचार्यकी व्यवस्था असंगत होनेपर भी उसको मानने योग्य स्वीकार करके उसके अनुसार चला जाय यह किसी प्रकार भी संगत और युक्ति सिद्ध नहीं है।

तीसरा परिच्छेद

पराशरका

पुनर्विवाह विधानमनुके विपरीत नहीं है।

प्रायः सभी प्रतिवादी महोदयोंने यह सिद्धान्त कर लिया है कि विधवाविवाह मनुके विपरीत है। उनके कहनेका अभिप्राय यही है कि पराशरने "नष्टे मृते प्रब्रजिते" इस वचनसे कलियुगमें विधवा आदि स्त्रियोंके लिये चाहे पुनर्विवाहका विधान किया है तो भी मनु विरुद्ध होनेके कारण स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकता क्योंकि वृहस्पतिने कहा है।

वेदार्थोपनिबध्दृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।

मन्वर्थविपरीता या सा स्मृति र्न प्रशस्यते ॥

मनुने अपनी स्मृतिमें वेदाथका संकलन किया है इसलिये वह प्रधान है। मनुसे विपरीत स्मृतियां प्रशस्त नहीं है।

इसी बृहस्पतिद्वारा मनुकी प्रधानता और उसके विपरीत स्मृतियोंकी अप्रमाणता दिखाई देती है। छान्दोग्य ब्राह्मणमें कहा हैं।

मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजम्।

मनुने जो कुछ उपदेश किया है वह महोषधा है।

इस स्थानमें भी वेदमें मनुस्मृतिकी को महौषध अर्थात् प्र-

धान मानकर ही व्याख्या की है। इसीलिये पराशरकी विवाह-विधि जब इसी मनुस्मृतिके विरुद्ध है तब उसको किस प्रकारसे प्रमाण स्वीकार किया जा सकेगा।

प्रतिवादियोंकी यही आपत्ति युक्ति संगत विदित नहीं होती। भगवान मनुने कहा है—

त्रिशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वां धर्मे सीदति सत्वरः॥

जिस पुरुषको उमर ३० वर्षकी हो वह १२ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और जिसकी उमर २४ वर्षकी हो वह ८ वर्षकी कन्यासे विवाह करे। जो इस काल नियमको उल्लंघन करे तो धर्मसे भ्रष्ट होता है।

इस स्थान पर मनुने दो प्रकारका कालनियम किया है इन दोनों प्रकारोंके काल नियमका उल्लंघन करने पर धर्म भ्रष्ट होता है यही बात कही है।

किन्तु अंगिरा कहते हैं—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।

दशमे कन्यका प्रोक्ता अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥

तस्मात् संवत्सरे प्राप्ते दशमे कन्यका बुधैः।

प्रदातव्या प्रयत्नेन न दोषः कालदोषतः॥

आठ वर्षकी कन्या गौरी कहाती है नव वर्षकी कन्या रोहिणी दश वर्षकी कन्याको कन्या कहा जाता है उसके ऊपर कन्याको रजस्वला कहा जाता है। इसलिये दसवां वर्ष आजाने पर विद्वान लोग बड़े प्रयत्नसे कन्यादान करें तब और काल कृत दोष नहीं होता।

इस स्थानपर अंगिराने आठवं, नवें, और दशवे वर्षको विवाह के लिये उत्तम काल बतलाया है और दशवें वर्ष का ठ दोष तक न गिन कर यत्न पूर्वक विवाह देनेके लिये कहा है। किन्तु पुरुषों के लिये क्या २४ वर्ष, क्या ३० वर्ष कोई भी कालका नियम नहीं रखा। अब सोचिये अंगिरा स्मृति मनुस्मृतिके विरुद्ध हुई कि नहीं मनुने आठ और १२वर्षको कन्याके विवाहका उत्तम काल कहकर विधान किया है और उससे अन्यथा करने पर धर्म भ्रष्ट होनेकी बात लिखी है। किन्तु अंगिराने आठवें नवें और दसवें वर्ष को विवाहका प्रशस्त काल कहा है और दसवें वर्ष काल, अकालकी विवेचना बिना किये यत्न पूर्वक कन्याको विवाह देनेका विधान किया है। अंगिराके मतसे १२ वां वर्ष किसी प्रकार भी विवाहके लिये उत्तम काल नहीं होता है। अब विवेचना करके देखिये कि इस अवसर पर सब मनुके मतसे चलते हैं या अंगिराके मतसे। हमें तो प्रतीत होता है कि इस स्थानपर मनुका मत आदर योग्य नहीं होता है। मनुके मतसे चला जाय तो १२ वर्षकी कन्याको तीस बरसके पुरुषके साथ और आठ वर्षकी कन्याको चौबीस वर्षके वरके साथ विवाह दिया जाय, नहीं तो धर्म भ्रष्ट हो किन्तु अब किसीको भी विवाहके अवसरपर इस नियमके अनुसार चलते नहीं देखा जाता। परंच आठवें वर्ष और दशवें वर्ष विवाहके लिये उत्तम काल है अंगिराके इस मतके अनुसार सबको चलते देखते हैं। इसलिये स्पष्ट देखा जाता है कि विवाहके अवसरपर मनुका मत आदरणीय न होकर उसके विरुद्ध अंगिराका मत ही आदरणीय हो गया है। मनु कहते हैं—

एकएवौरसःपुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणाञ्चानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद् धनात्।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥

एक केवल औरस पुत्र ही पैतृक धनका अधिकारी है। वह दया करके अन्यान्य पुत्रोंको भोजन वस्त्र दे। किन्तु पिताके धनके बटवारेके अवसर पर क्षेत्रज भाईको पिताके धनका छठा अंश या पांचवां अंश दे। औरस और क्षेत्रज पुत्र पिताके धनके अधिकारी हुए। दत्तक आदि दस प्रकारके पुत्र अपनेसे पूर्व २ के अभावमें गोत्रभागी और धनांशके भागी होंगे।

यदि एक पुरुषके औरस क्षेत्रज और दत्तक, कृत्रिम आदि बहुत प्रकारके पुत्र हों तो औरस पुत्र क्षेत्रज पुत्रको पिताके धनका पांचवा या छठा अंश मात्र देकर अपने आप समस्त धन अपहरण कर लेगा। और यदि और पुत्र न रहा तो क्षेत्रज पुत्र समस्त धनका अधिकारी रहेगा। इस रूपसे मनुने औरस आदि बहुत प्रकारके पुत्रोंके रहते हुए औरसको समस्त पैतृक धनका स्वामी और क्षेत्रजको पांचवें या छठे अंशका अधिकारी और दत्तक आदि अन्य पुत्रोंको भोजन वस्त्र मात्रका अधिकारी कहा है। और पूर्व पूर्वके अभावमें पर पुत्रका अधिकार विधान किया है।

किन्तुकात्यायन कहते हैं—

उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः सुताः।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादन भागिनः ॥

औरस पुत्र उत्पन्न हो तो सजातीय, दत्तक, आदि पुत्र पैतृक

धनका तीसरा अंश पावें और असजातीय पुत्रोंको भोजन वस्त्र मात्र प्राप्त हो।

इस स्थानपर सजातीय क्षेत्रज आदिको पैतृक धनके तृतीयांशपर अधिकार और असजातीय पुत्रोंका भोजन अच्छादन मात्र पर अधिकार विधान किया है। अब विवेचना कीजिये कि कात्यायन स्मृति मनु स्मृतिके विरुद्ध है कि नहीं। मनु केवल क्षेत्रज को छठा और पांचवां अंश देनेकी अनुमति देते हैं और दत्तक आदिको केवल भोजन वस्त्र मात्र, किन्तु कात्यायन सजातीय, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, पौनर्भव आदि सबको तृतीयांश देनेका विधान करते हैं। जैसे मनुके मतसे औरसके होने पर दत्तक पुत्र भोजन वस्त्र मात्रके अधिकारी * कात्यायनके मतसे औरसके होने पर दत्तक पैतृक धनके तृतीयांशके अधिकारी हैं। अब अनुसंधान करके देखिये कि सब मनुके मतसे चलते हैं या कात्यायनके मतसे। हमें तो यह प्रतीत होता है कि इस स्थान पर मनु स्मृति आदरणीय न होकर मनुके विरुद्ध कात्यायन स्मृति ही ग्राह्य होती है। अर्थात् औरसके होते हुए दत्तक केवल भोजन वस्त्र ही न पाकर पैतृक धनके तृतीयांशका अधिकारी भी रहेगा। यदि बृहस्पतिके वचनका यही तात्पर्य है कि कलियुगमें मनुके विरुद्ध स्मृति मानने योग्य नहीं तब इस स्थान पर कात्यापनकी स्मृति किस प्रकार मानने योग्य है।

अतएव जब लोगोंके कार्य व्यवहारसे यह प्रमाणित होता है कि कलियुगमें मनुके विरुद्ध स्मृति सर्वत्र माननीय होती है और

---

* किन्तु दत्तक यदि सर्व गुण सम्पन्न हो तो औरसके हते हुए वह पितृ धनका अंश भागी हो सकता है।

जैसे—उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्यतुदत्रिमः सहरेतैं व तद्रिथ्थं सम्प्राप्तो धन्य गोत्रवत् मनु ९ १४१।

जब पराशरने मनुके बतलाये धर्म सत्य युगके धर्म बतलाये हैं तब मनु संहिताके विषयमें बृहस्पतिकी कही हुई मनुकी सर्वश्रेष्ठता और मनुसे विपरीत स्मृतियोंकी अप्रामाणिकता लाचार होकर सत्ययुगके लिये ही रह जायगी। नहीं तो पराशर संहिताके निर्णयके अनुसार भिन्न भिन्न युगमें एक एक संहिताकी प्रधानता न माने और सब युगोंमें मनु स्मृतिकी ही सबसे अधिक प्रधानता निश्चय कर लें तो बृहस्पतिका वचन सर्वथा असंगत हो जायगा। क्योंकि पहले जिस प्रकार दिखाया गया है उसके अनुसार अब मनु स्मृतिसे विपरीत स्मृति हीन अमाननीय न होकर और भी अधिक आदर योग्य हो रही है। फलतः—

मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।

मनुसे विपरीत स्मृति उत्तम नहीं है। यह बात किस प्रकार संगत हो सकती है। और

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्॥

मनुने वेदार्थका संकलन किया है इसलिये मनु प्रधान है यह बात भी किस प्रकारसे संगत हो सकती है। क्योंकि मनुने अपनी संहितामें वेदार्थ संकलन किया और याज्ञवल्क्य पराशर आदिने क्या अपनी अपनी संहिताओंमें वेदार्थ संकलन नहीं किया है? क्या वे अपनी अपनी संहिताओंमें विरुद्ध कपोलकल्पित सब बात लिख गये हैं। वेद नहीं जानते थे यह बात भी नहीं और अपनी२ संहिताओंमें वेदार्थ संकलन नहीं किया यह बात भी नहीं। मनुने अपनी संहितामें जिस प्रकार वेदार्थका संकलन किया है याज्ञवल्क्य पराशर आदि संहिता कर्त्ताओंने भी अपनी २ संहिताओंमें उसी प्रकार वेदार्थ संकलन किया है इसमें कोई संशय नहीं। फलतः वेदार्थ संकलन रूप हेतु दिखाकर जो बृहस्पतिने मनु-

स्मृतिकी प्रधानता बतलाई है वही वेदार्थ संकलन रूप हेतु जब सब संहिताओंमें समान रूपसे रहता है तब मनु प्रधान है और अन्यान्य संहिताकार गौण हैं यह व्यवस्था किस तरह युक्ति-सिद्ध हो सकती है? क्योंकि जिस हेतुसे एक संहिता प्रधान होती है उस हेतुके रहते हुए अन्य संहिताएं किस प्रकार अप्रधान रह सकती हैं। फलतः लोकमें जब सब ऋषियोंको सर्वज्ञ और भ्रम-प्रमाद शून्य माना जा रहा है और जब सब ऋषियोंने अपनी २ संहितामें वेदार्थका ही संकलन किया है तब सब ऋषियोंको समान ही जानना होगा। सब संहिताकारोंको बराबर ही मानना चाहिये। यह हमारा फैसलाभी कपोल कल्पित नहीं। माधवाचार्यने ही पराशर संहिताके भाष्यमें इस प्रकारका निर्णय किया है। जैसे—

अस्तु वा कथञ्चिन्मनुस्मृतेः प्रामाण्यं तथापि प्रकृतायाः पराशर-स्मृतेः किमायातं तेन नाह मनोरिव पराशरस्य महिमानं क्वचिद्वेदः प्रख्यापयति तस्मात्तदीयस्मृतेः दुर्निरूपं प्रामाण्यम्

अच्छा किसी प्रकार मनुस्मृतिकी प्रामाणिकता सिद्ध हो गयी इससे भी पराशर स्मृतिका क्या होगा? क्योंकि वेदमें किसी स्थानपर मनुके समान पराशरकी महिमाका वर्णन नहीं है। इसलिये पराशर स्मृतिकी प्रामाणिकता कहना कठिन है।

यह आशंका उठाकर माधवाचार्यने सिद्धान्त किया है,—

नच पराशर महिम्नोऽश्रौतत्वं, सहोवाच व्यासः पराशर्य इति श्रुतौ पराशरपुत्रत्व मुपजीव्य व्यासस्य स्तुतत्वात् यदा सर्वसम्प्रतिपन्नमहिम्नो वेदव्यासस्यापि स्तुतये पराशरपुत्रत्वमुपजीव्यते तदा

किंसु वक्तव्य माचिन्त्य माहिमा पराशर इति तस्मात्पराशरोऽपि मनु समान एव । एस एव न्यायो वासिष्ठात्रियाज्ञवल्क्यादिषु योजनीय

वेदमें पराशरकी महिमाका वर्णन नहीं किया ऐसा नहीं है, "पराशरपुत्र व्यासने ऐसा कहा है" इस वचनमें वेदसे व्यासकी प्रशंसा पराशर पुत्र कह कर की गयी है। वेद व्यासकी महिमाको सभी स्वीकार करते हैं। जब पराशरका पुत्र कहकर वेदमें उसी वेदव्यासकी महिमा कही गयी है तब पराशरकी महिमा अचिन्तनीय है यह भी कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इसलिये इसमें संदेह नहीं कि पराशर भी मनुके समान है। बसिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य आदिमें भी यही युक्ति लगा लेनी चाहिये। अर्थात् वेदमें उनकी भी महिमा है। इसलिये वे भी मनुके समान हैं।

अतएव जब सब संहिताकार ऋषि भी सर्वज्ञ और भ्रमप्रमाद शून्य माने जाते हैं जब सबने अपनी २ संहितामें वेदार्थ काही संकलन किया है और जब वेदमें ही सबकी महिमा भी लिखी है तो सभी ऋषि सामान रूपसे माननीय हैं इसमें कोई संदेह नहीं। तब विशेष बात यही है कि युगभेदसे एक २ संहिता प्रधान मानी जावे इतना ही तो ? सत्ययुगमें मनु संहिता प्रधान, त्रेतायुगमें गौतमसंहिता प्रधान, द्वापरयुगमें शंखलिखित संहिता प्रधान और कलियुगमें पराशर संहिता प्रधान है। इसलिये जब मनु संहिता और पराशर संहिता भिन्न भिन्न युगके शास्त्र हैं तब दोनोंकी आपसके विरोध की बात ही किस रूपसे उठ सकती है।

जितना दिखाया गया है उसके अनुसार यही निर्णय होता है कि मनु संहिता सत्य युगका प्रधान शास्त्र है और पराशर संहिता कलियुगका प्रधान शास्त्र है, इसलिये दोनोंके परस्पर

विरोध होनेका अवसर ही नहीं। बृहस्पतिने जो मनु संहिताकी सर्व प्रधानता और उससे विपरीत संहिताओंकी अप्रामाणिकता बतलाई है वह केवल सत्ययुगके लिये है और इस वर्तमान समयमें मनुविरोद्ध स्मृति भी स्वीकार करने योग्य हो रही है। फलतः पराशरका किया विधवा आदि स्त्रियोंके विवाहका विधान मनु विरुद्ध होते हुए भी कलियुगमें ग्राह्य होनेमें कोई आपत्ति नहीं।

अब यही विवेचना करना अवश्य है कि विधवा आदि स्त्रियोंका पुनर्वार विवाह मनुसंहिता अथवा आन्यान्य संहिताओंके विरुद्ध है कि नहीं।

मनुभगवान कहते हैं कि—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ ९ ॥ १७६ ॥

जो नारी पतिसे त्यागी जाकर या विधवा होकर अपनी इच्छासे पूनर्भू हो अर्थात् पुनर्वार अन्य पतिसे विवाह करे उसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो उसको पौनर्भव कहा जाता है।

विष्णु कहते हैं—

अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः ॥ अ० १५ ॥

जिस अक्षतयोनि स्त्रीका पुनर्वार विवाह संस्कार हो उसको पुनर्भू कहते हैं।

याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृताः पुनः ॥ १ ॥ ६१ ॥

क्या क्षतयोनि क्या अक्षतयोनि जिस स्त्रीका पुनर्वार विवाह संस्कार हो उसको पुनर्भू कहते हैं।

वसिष्ठ कहते हैं:—

याच क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्य अन्यं पतिं विन्दते, मृते वा, सा पुनर्भूर्भवति ॥ अ० १७ ॥

जो स्त्री नपुंसक या पागल या पतित पतिका परत्याग करके या पतिके मृत्यु होनेपर और व्यक्तिको विवाह करले उसको पुनर्भू कहा जाता है।

इसी प्रकार मनु, विष्णु याज्ञवल्क्य और बसिष्ठने पुनर्भू धर्मका वर्णन किया हैं। अर्थात् पतिके नपुंसक या उन्मत्त हो जाने या पतिके मर जानेपर अथवा पतिके त्याग देनेपर स्त्रियोंका पुनर्विवाह संस्कार करनेका विधान किया है।

कोई लोग कहते है कि मनु आदिने पौनर्भव पुत्रकी बात कही है वह भी केवल यह कि इस रूपसे पुत्र उत्पन्न होगा तो उसका नाम क्या होगा यही मात्र निर्देश किया है। यह तो नहीं कहा कि उस प्रकारसे उत्पन्न हुए पुत्रको शास्त्रीय पुत्र माना जाय। (श्री रामपुर निवासी श्रीयुत बाबू कालीदास आदि।) यह निर्णय विवेचक लोगोंका कपोल कल्पित है; शास्त्रानुकूल नहीं है। क्योंकि जिन ऋषियोंकी संहितामें पुत्र विधायक विधान है उन सबने पौनर्भवको शास्त्रीय पुत्र मानकर पुत्रोंमें गिना है। मनुने औरस आदि १२ पुत्रोंके लक्षण लिखते हुए अन्तमें कहा है—

क्षेत्रजादीन् सुतानेतानेकादश यथोचितान्।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान् मनीषिणः ॥ ६ ॥१८० ॥

यथा क्रम जिन क्षेत्रज आदि ११ पुत्रोंका लक्षण कहा है पुत्रके न होनेपर श्राद्ध आदि क्रियाका लोप हो जानेपर मुनियोंने उनको पुत्रका प्रतिनिधि कहा है। और

श्रेयसः श्रेयसोऽभावे, पापीयान् रिक्थ मर्हति ॥

पूर्व २ उत्कृष्ट पुत्रके न होनेपर पर पर निकृष्ट पुत्र पिताके धनका अधिकारी होता है।

याज्ञवल्क्यने औरस आदि १२ प्रकारके पुत्रोंका लक्षण कह कर कहा है—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ॥

इन १२ प्रकारके पुत्रोंमेंसे पूर्व पूर्व पुत्रके अभावमें पर पर पुत्र श्राद्धमें पिण्ड देने और पिताके धन लेनेके अधिकारी होते हैं।

इस प्रकारसे मनु और याज्ञवल्क्यने जब पौनर्भवको श्राद्धका अधिकारी और धनका अधिकारी बना दिया है तब पौनर्भव शास्त्रीय पुत्र नहीं यह बात निनान्त श्रद्धायोग्य नहीं।

कोई २ कहा करते हैं कि मनुने १२ प्रकारके पुत्रोंकी गणना करते हुए पौनर्भवको दसवें स्थानमें कहा है। इसलिये पौनर्भव बहुत निकृष्ट पुत्र है। इस स्थानपर कहना इतना ही है कि मानाकि मनुके मतमें पौनर्भव निकृष्ट पुत्र हैं किन्तु याज्ञलल्क्य, वसिष्ठ और विष्णुके मतमें तो वह निकृष्ट पुत्र नहीं। उन्होंने पौनर्भवको दत्तक पुत्रसे भी अधिक श्रेष्ठ कहा है और पूर्व पूर्व पुत्रके अभावमें पर पर पुत्रको श्राद्धका अधिकारी और धनका अधिकारी विधान किया है। तदनुसार पौनर्भव दत्तकके पूर्व ही श्राद्ध और धन दोनोंका अधिकारी हो जाता है। इसलिये पौनर्भव दत्तककी अपेक्षा श्रेष्ठ पुत्र हैं। बसिष्ठने पौनर्भवको चतुर्थ गिना है। जैसे—

पौनर्भवश्चतुर्थः ॥ अ० १७ ॥

पौनर्भव चतुर्थ है। इस प्रकार वसिष्ठने पौनर्भवको प्रथम

श्रेणीके छः पुत्रोंमें से चौथा कहकर दत्तकको द्वितीय श्रेणीके छः पुत्रोंमें से दूसरा कहा है । जैसे

दत्तको द्वितीयः ॥ अ० १७ ॥

दत्तक दूसरा । विष्णुने भी पौनर्भवको चौथा और दत्तकको आठवां कहा है । जैसे—

पौनर्भवश्चतुर्थः ॥ दत्तकश्चाष्टमः ॥ अ० १५ ॥

पौनर्भव चौथा और दत्तक अठवां । इस प्रकार पुत्रोंकी गणना करके कहाः—

पुनरेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान् स एव दायहरः सचान्यान् बिभृयात् ।

इनमेंसे पूर्व पूर्व श्रेष्ठ और धनका अधिकारी है । वह और पुत्रोंका भरण पोषण करे ।

इसीलिये देखिये ! मनुके मतमें पौनर्भव दसवें स्थानपर कहा गया है । इसलिये वह निकृष्ट गिना जा कर भी याज्ञवल्क्यके मतमें सातवें और वसिष्ठ और विष्णुके मतमें चौथे नम्बरपर गिना गया है और दत्तक पुत्रकी अपेक्षा श्रेष्ट पुत्र माना गया है । मनु संहिता सत्ययुगका प्रधान शास्त्र है । इसलिये उसी युगमें पौनर्भव निकृष्ट पुत्र गिना जायगा । सब युगोंके लिये यह व्यवस्था होती तो याज्ञवल्क्य पौनर्भवको सातवें स्थानपर और विष्णु और वसिष्ठ चौथे स्थानपर कभी न गिनते । अतएव जब मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु और वसिष्ठने पौनर्भव धर्मका वर्णन करके विधवा आदि स्त्रियोंका पुनर्विवाह संस्कारका विधान किया है तब विधवाका विवाह मनु अथवा अन्यान्य मुनियोंके मतके विरुद्ध है यह बात किसी प्रकार भी संगत और युक्तिके अनुकूल नहीं । विदित होता है कि मनु

अथवा अन्यान्य मुनियोंकी संहिताओंपर विशेष दृष्टि नहीं डाल कर ही अनेक लोग विधवा आदि स्त्रियोंके विवाहको मनु आदि-के मतके विरुद्ध कह रहे हैं। नहीं तो ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे विशेष रूपसे जानकर भी झूठ मूंठ निराधार इसप्रकार बातें लिखकर छपवा देते हैं।

वस्तुतः जैसा ऊपर दिखाया गया है उसके अनुसार विधवाका विवाह मनु आदिके मतके विरुद्ध नहीं है। तभी तो मनु आदिके मतमें दूसरी बार विवाहिता स्त्रीको पुनर्भू और उसके पेटसे पैदा हुए पुत्रको पौनर्भव कहते हैं। पराशरके मतसे कलियुगमें वैसी स्त्रीको पुनर्भू और वैसे पुत्रको पौनर्भव नहीं कहा गया यही विशेषता है। कलियुगमें वैसी स्त्रीको पुनर्भू कहना अभिमत होता तो पराशर अवश्य ही पुनर्भू संज्ञाका उल्लेख करते। और वैसे पुत्रको पौनर्भव कहना अभिमत होता तो अवश्य ही पुत्रगणनाके अवसरपर पौनर्भवका भी उल्लेख करते। वैसी स्त्रीको पुनर्भू न कहा जाय और वैसे पुत्रको भी पौनर्भव न कहकर औरस गिना जाय यह बात अब इस कालमें लौकिक व्यवहारके अनुसार भी खूब प्रमाणित हो रही है। देखिये, यदि वाग्दान करनेके उपरान्त विवाह संस्कार होनेके पूर्व वरकी मृत्यु हो जाय अथवा किसी कारणसे सम्बन्ध टूट जाय तो वह कन्या अन्य वरके साथ विवाहित हो जायगी। अन्य युगमें इस प्रकार विवाहित कन्याको पुनर्भू और उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्रको पौनर्भव कहा जायगा। जैसे—

सप्त पौनर्भवाः कन्याः वर्जनीयाः कुलाधमाः ।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमंगला ॥

उदकस्पर्शिता याच याच पाणिगृहीतिका ।

अग्नि परिगता याच पुनर्भूप्रभवा च या ॥

इत्येताः काश्यपेनोक्ताः दहन्ति कुलमाग्निवत ॥

वाग्दत्ता जिसको वाक्य द्वारा दान किया गया है, मनोदत्ता अर्थात् जिसको मन मनमें दानकर दिया गया है, कृतकौतुक-मंगला अर्थात् जिसके हाथमें विवाह सूत्र बाँधा दिया गया हो, उदकस्पर्शिता, अर्थात् जिसको यथाविधि दान किया गया हो, पाणिगृहीतिका, अर्थात् जिसका पाणिग्रहण संस्कार हो गया हो, अग्नि परिगता अर्थात् जिसने फेरे फिर लिये या जिसकी कुशण्डिका संस्कार हो गया हो,और पुनर्भू प्रभवा,अर्थात् जिसका जन्म पुनर्भू के गर्भसे हुआ हो, कुलोंमें अधाम इन७ प्रकारकी पुनर्भू कन्याओंका वर्जन करना चाहिये । काश्यप की कही ये ७ प्रकारकी कन्याएं विवाहित होकर अग्निके समान पतिकुलको भस्म कर देती हैं ।

अब वर्त्तमान कालमें वाग्दत्ता मनोदत्ता, कृतकौतुकमंगला, पुनर्भूप्रभवा; इन चार प्रकारकी पूनर्भू कन्याओंका विवाह तो सारे जगत्में प्रचलित है ही । अर्थात् वाग्दान, मन मनमें किये दाम और हाथमें विवाहसूत्र बन्ध जानेके उपरान्त वर मर जाय या किसी कारणसे सम्बन्ध टूट जाय तो उसी कन्याका पुनर्वार अन्य वरके साथ विवाह हो जाता हैं । और ऐसी पुनर्भू कन्या-के गर्भसे उत्पन्न कन्याका विवाह भी हो जाता हैं । पूर्व पूर्व युगमें ऐसी विवाहिता कन्याओंको पुनर्भू और उनके गर्भसे उत्पन्न पुत्रोंको पौनर्भव कहा जाता था । किन्तु अब ऐसी स्त्रियों-को पुनर्भू कहा नहीं जाता और उनके गर्भसे उत्पन्न पुत्रोंको भी पौनर्भव नहीं कहा जाता। सभी इस प्रकारकी स्त्रियोंको सर्वांशमें प्रथम विवाहित स्त्रीके समान और वैसे पुत्रको सर्वांशमें औरस

के समान जानते हैं। वैसे पुत्र औरसोंके समान ही मां बापका श्राद्धादि करते हैं और औरसके समान मां बाप आदिके धनके भी अधिकारी होते हैं। वस्तुतः सबको औरस ही माना जाता है, कोई भूलकर भी इनको पौनर्भव नहीं मानता। अतएव देखिये, अन्य युगोंमें भी सात प्रकारकी पुनर्भू और पौनर्भव थे उनके बीचमें चार प्रकारके अब भी प्रचलित हैं। उनको भी पुनर्भू और पौनर्भव कोई नहीं मानता। वैसी स्त्री प्रथम स्त्रीके समान मानी जाती है और वैसा पुत्र सर्वत्र औरस पुत्र माना जाता है। बचे हुए तीन प्रकारकी पुनर्भू स्त्रियोंका भी विवाह प्रचलित हो जाय तो उसी प्रकार उनको भी प्रथम विवाहिताके समान माने जाने और उनके गर्भसे उत्पन्न पुत्रोंको भी औरस पुत्रके समान माने जानेमें क्या बाधा है?

कलियुगमें द्वितीय वार विवाहिता स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न पुत्रको औरस मानना चाहिये। महाभारतमें उसका स्पष्ट प्रमाण पाया जाता है। ऐरावत नाम नागराजकी एक कन्या थी। वह कन्या विधवा थी। नागराजने अर्जुनके साथ उसका विवाह कर दिया। उसी द्वितीय बार विवाहिता कन्याके गर्भसे औरस पुत्र इरावान नामक उत्पन्न हुआ। वह पुत्र अर्जुनका औरस पुत्र स्पष्ट लिखा गया है। जैसे :—

अर्जुनस्यात्मजः श्रीमानिरावान्नाम वीर्यवान्।

सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥

ऐरावतेन वै दत्ताह्यनपत्या महात्मना।

पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥

भार्यार्थे ताञ्च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम्। भीष्मपर्व। ६१ अ०।

नागराजकी कन्यासे अर्जुनका इरावान नामक एक श्रीमान् वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ। सुपर्ण (गरुड़)ने इस कन्याके पतिको मार डाला था। नागराज महात्मा ऐरावतने इस दुखिता विषाद-पूर्ण पुत्रहीना कन्याको अर्जुनके हाथमें दान दे दिया। अर्जुनने विवाहकी इच्छुक इस कन्याका पाणिग्रहण किया।

अजाना दर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम्।

जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ॥भीष्मपर्व अ० ९१।

अर्जुन जब इस औरस पुत्रको मरा जानकर रह न सका तो वह भीष्मके रक्षक राजाओंको युद्धमें मारने लगा।

इसीसे यह प्रमाणित हो जाता है कि पूर्व पूर्व युगके पौन-र्भवको कलियुगके पहले भागमें ही औरस कहा जाना प्रारम्भ हो गया था।

अब यही विवेचना करना आवश्यक है कि प्रतिवादी महा-शयोंने मनुसंहितासे जिन वचनोंको उद्धृत करके विधवा-विवाहको मनुसे विपरीत सिद्ध किया है उन वचनोंका अर्थ और तात्पर्य क्या है? वे लोग

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्त्तोपदिश्यते ॥ ५। १६२ ॥

"और द्वितीय अर्थात् पर पुरुष स्वाध्वी स्त्रियोंके लिये किसी शास्त्रमें भी भर्त्ता नहीं कहा गया है।"

यह आधा वचन उठाकर विधवा विवाहको मनु विरुद्ध कह कर इसकी व्याख्या कर देते हैं। किन्तु इसके अर्थ और तात्पर्यकी आलोचना करें तो उनका अभिप्राय किसी प्रकार सिद्ध हो नहीं सकता। जैसे—

मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

स्वर्गं गच्छत्यमुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
अपत्यलोभाद्या तु स्त्री, भर्त्तारमतिवर्त्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह नवाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्‌भर्त्तोपदिश्यते ॥

(अ० ५। १६०, १७१, १६२,)

स्वामीके मरनेपर साध्वी स्त्री, ब्रह्मचर्य पालन करके काल-क्षेप करे तो वह पुत्रके विना ही स्वर्गमें चली जाती है। जिस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रके बिना ही स्वर्गमें जाते हैं। जो नारी पुत्रके लोभमें व्यभिचारिणी हो जाती है वह निन्दाको प्राप्त होती है और पतिलोकसे नष्ट हो जाती है। परपुरुष द्वारा उत्पन्न पुत्र पुत्र नहीं कहाता, द्वितीय अर्थात् पर पुरुषको साध्वी स्त्रियोंके लिये पति कहकर उपदेश नहीं किया गया। अर्थात्—

अनन्ताः पुत्रिणां लोकाः नापुत्रस्य लोकोस्तीति श्रूयते ॥

॥ वसिष्ठ स० । अ० १७ ॥

"पुत्रवान लोगोंको अनन्त स्वर्ग प्राप्त होता है। अपुत्रोंको स्वर्ग नहीं, वेदमें ऐसा ही कहा गया है।"

इस शास्त्रके अनुसार पुत्रहीना रहे तो स्वर्ग नहीं होता इसी भयसे और पुत्रवती हो तो स्वर्ग प्राप्ति होती है, इस लोभसे व्यभिचारिणी होकर अन्य पुरुष द्वारा पुत्रोत्पादनके लिये लग जाय वह स्त्री निन्दित और स्वर्ग-भ्रष्ट हो जाती है। इस कारण विधानके न होने पर पुरुषसे उत्पन्न पुत्र पुत्र नहीं कहा जाता। यदि कहें कि स्त्री जिस पुरुषसे पुत्र उत्पन्न किया। उसे स्त्रीका पति कहेंगे। किन्तु यह शास्त्रको स्वीकार नहीं। क्योंकि

पर पुरुषको स्वाध्वी स्त्रियोंके भर्त्ता रूपसे कहीं भी किसी शास्त्रमें उपदेश नहीं किया। अर्थात् स्वर्ग-लाभके लोभमें स्वयं अपनी इच्छासे जिस पर पुरुषसे अपना पुत्र उत्पन्न करनेकी चेष्टा करेगी उसी पर पुरुषको पति स्वीकार करना शास्त्रको इष्ट नहीं। क्योंकि शास्त्रके अनुसार जिस पुरुषके साथ पाणिग्रहण संस्कार हुआ है शास्त्रमें इसको ही पति शब्दसे कहा गया है। इसलिये प्रदिवादी महाशयोंके लिखे श्लोकार्धका तात्पर्य भी यही है कि जो स्त्री विधवा, पुत्र-लाभके लोभमें व्यभिचारिणी होकर बिना विधानके जिस पर पुरुषसे संयोग करे वह पर पुरुष उसका पति न कहा जा सके। शास्त्रका यह तात्पर्य कभी नहीं कि यथाविधान विवाह संस्कार होनेपर भी स्त्रियोंका दूसरा पति नहीं हो सकता; इसीसे मनुने स्वयं पुत्र-प्रकरणमें जो पौनर्भव पुत्रका विधान किया है और पौनर्भव पुत्रको पिताका श्राद्धाधिकारी और धनाधिकारी बतलाया है इसका सम्बन्ध किस प्रकार लगेगा।

प्रतिवादी महाशय प्रकारणकी पर्यालोचना करके ही—

नविवाहविद्यावुक्तं विधवा वेदनं पुनः ॥

(मनु०। ६५।)

"विवाह विधानमें विधवाका पुनः विवाह नहीं कहा।" इस आधे श्लोकका जैसाका तैसा अर्थ लेकर विधवा-विवाहको मनुके विपरीत सिद्ध करनेकी दूसरी चेष्टा करते हैं। किन्तु इस वचनको एकदम विधवा-विवाहका निषेधक मान लें तो पुत्र प्रकरणमें मनुका पौनर्भव विधान किस प्रकारसे संगत होगा यह बात उन्होंने अनुशीलन करके नहीं देखी। इसी आधे श्लोकको यदि पृथक् ग्रहण कर लें तो उनका अभिमत अर्थ

किसी प्रकार सिद्ध हो सकता है। प्रकरणका पर्यालोचन और तात्पर्य की संगति लगाकर देखें तो तब उनका मनोरथ किसी तरह भी सिद्ध नहीं सकता। जैसे—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा, स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ ५९॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन॥ ६०॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिवृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः॥
विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधी।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम्॥
नियुक्तो यो विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ॥
नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन् हि नियुंजाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजै र्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

स मही मखिलां भुंज़न् राजर्षिप्रवरः पुरः ।
वर्णानां सकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥
ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थे तं विगर्हन्ति साधवः ॥

(मनु० अ० ९ । ५९-६८)

सन्तानके अभावमें विधानके अनुसार नियुक्ता स्त्री देवरके द्वारा या किसी सपिण्ड पुरुषके द्वारा अपना मन चाहा पुत्र प्राप्त करे ॥ ५७ ॥ नियुक्त पुरुष अपने शरीर पर घृत लगा कर मौनी होकर रात्रि कालमें उस विधवासे एक पुत्र उत्पन्न करे दूसरा कभी नहीं ॥ ६० ॥ एक ही पुत्रसे धर्म पूर्वक नियोगका उद्देश्य पूरा नहीं होता यह विवेचन करके नियोग शास्त्रके जानने वाले मुनियोंने विधवा स्त्रीको द्वितीय पुत्र उत्पन्न करनेकी अनुमति भी दी है ॥ ६१ ॥ विधवामें यथा विधान नियोगका उद्देश्य सम्पन्न हो जाने पर परस्पर वे दोनों पिता और पुत्र वधूके समान रहें ॥६२॥ जो स्त्री पुरुष नियुक्त होकर विधान शास्त्रका उल्लंघन करके स्वेच्छानुसार चलते हैं वे पतित और पुत्र वधू गामी और गुरु तल्पग भी होते हैं ॥६३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पुत्रोत्पादनके लिये अन्य पुरुषको नियुक्त न करें। अन्य पुरुषको नियुक्त कर देने पर सनातन धर्म नष्ट हो जाता है ॥६४॥ विवाहमें प्रयुक्त मन्त्रोंमें किसी स्थान पर नियोगका उल्लेख नहीं है और विवाह विधानके अवसरमें विधवाका दानका भी उल्लेख नहीं। शास्त्रज्ञ द्विजोंने इस पशु धर्मकी निन्दा की है। वेनके राज्य शासनकालमें मनुष्योंमें यह व्यवहार प्रचलित हो गया था। तभीसे जो व्यक्ति मोहान्ध होकर पति-हीन स्त्रीमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर पुरुषको नियुक्त करता है वह साधु पुरुषोंके बीचमें निन्दित होता है।

अब विवेचना करके देखिये कि इस प्रकरणको आदिसे लेकर अन्ततक देखें तो क्षेत्रज पुत्रके विधानका निषेध प्रतीत होता है। अथवा विधवा विवाहके विधिके निषेध मालूम होता है। पहले लोकमें सन्तानके न होने पर क्षेत्रज पुत्र पैदा करनेके प्रकरणका उपसंहार करते हैं इसलिये जब उपक्रममें और उपसंहारमें क्षेत्रज पुत्रका विधान और निषेध देखा जाता है और जब उनके बीचके सब श्लोकोंमें उसमें सम्बद्ध बात कही दीखती हैं तब यह प्रकरण केवल क्षेत्रोत्पादन विषयक है इसमें कोई संशय नहीं रह सकता। इन श्लोकोंका आश्रय लेकर प्रतिवादी महाशय विधवाके-विवाह को मनुविरुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं। उसके पूर्वाधमें ही क्षेत्रज पुत्र उत्पादन करनेकी आज्ञाको बतलाने वाला नियोग, शब्द है इसलिये, दूसरे आधेमें जो अस्पष्ट 'वेदन' शब्द है उसका पाणिग्रहण यह अर्थ न करके प्रकरण वश क्षेत्रज पुत्र पैदा करनेके लिये स्त्रीको स्वीकार करना यही अर्थ लेना उचित है। यह 'वेदन' शब्द जिस विद् धातुसे बना है उसी विद् धातुसे पाणिग्रहण और क्षेत्रज पुत्र पैदा करनेके निमित्त स्त्रीको स्वीकार करना दोनों ही अर्थ सिद्ध होते हैं। विवाह प्रकरणमें इस शब्दका अर्थ पाणिग्रहण है और नियोग प्रकरणमें रहे तो क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करनेके लिये स्त्रीको स्वीकार करना इस अर्थका बोधक होता है। जैसे,

न सगोत्रां न समानप्रवरां भार्य्यां विन्देत ॥

(विष्णुसंहिता, अ० २४)

"समानगोत्रा और समान प्रवरवाली कन्याका ग्रहण न करे।" देखिये, इस स्थानपर "विन्देत" यह जो विद्धातुका रूप है उसे विवाह प्रकरणमें कहें तो विवाहया पाणिग्रहण अर्थठीक बैठता है।

"यस्या म्रियेत कन्यायाः वाचा सत्येकृते पति।

तमनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
यथा विध्या धिगम्येनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथोभनेदा प्रसवात् सकृत् सकृद्दृता बृतौ ॥
मनुस्मृति ८।५८।७०॥

बाग्दान होनेके उपरान्त, विवाहके पूर्व जिस कन्याके पतिकी मृत्यु हो जाय उसको उसका देवर इस विधानसे 'वेदन' करे वैधव्यके चिन्ह धारण कर लेने वाली उस कन्याको देवर यथा विधान ग्रहण करके सन्तान न हुए पर्यन्त ऋतुके अवसरमें एक वार गमन करे।

देखिये, इस स्थान पर नियोग प्रकरण कहकर विद धातुसे क्षेत्रज पुत्रके पैदा करनेके लिये ग्रहण करना ही विदित होता है। इसलिये—

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ।

विवाह विधिमें विधवाका, वेदन, नहीं कहा।

इस स्थानपर विद धातुसे बना हुआ, वेदन, शब्द है। उसका ही नियोग प्रकरणमें क्षेत्रज पुत्रोत्पादनके लिये स्त्रीका स्वीकार करना यह अर्थ करना उचित है। वस्तुतः 'वेदन' शब्दका इस प्रकारका अर्थ न करें तो इस स्थान पर संगत हो नहीं सकता।

नोद्वाहिकेषुमन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥

विवाहके मन्त्रोंमें नियोगका कहीं वर्णन नहीं किया गया, और विवाह विधानके अवसरपर नियोग (क्षेत्रज पुत्र उत्पादनके लिये स्त्रीका ग्रहण) भी नहीं कहा गया। यह अर्थ जिस प्रकार संगत प्रतीत होता है दूसरा अर्थ उस प्रकारसे संगत नहीं होता है। जैसे—

विवाहके मन्त्रोंमें नियोगका उल्लेख नहीं।

विवाह विधानके अवसर पर विधवाका पुनर्विवाह नहीं कहा।

मनुनेनियोग धर्मका निषेध किया है और इस वचनमेंही नियोगका निषेध किया है।विवाहके जितने मन्त्र हैं उनमेंसे किसीमें भी विधवाके नियोगका उल्लेख नहीं है और विवाह विधानके अवसरमें क्षेत्रज पुत्रोत्पादनके लिये स्त्रीको स्वीकार करने अर्थात् नियोगसे पुत्रोत्पादन हो इसका भी उल्लेख नहीं है। पुत्रको उत्पादन करना विवाहका कार्य है। मनुने नियोगको विवाह विशेष मान लिया है और विवाहके मन्त्रोंमें और विवाहकी विधिमें नियोगका और नियोगके धर्मोंके अनुसार पुत्रोत्पादनके लिये स्त्रीका ग्रहण करनेका भी वर्णन नहीं, इस कारण इसको अशास्त्रीय कहकर निषेध किया है। नहीं तो नियोगके प्रकरणमें पढ़े वचनके पूर्वार्धमें तो क्षेत्रज पुत्र उत्पादनका निषेध हो और उत्तरार्धमें अनुपस्थित, प्रकरण रहित विधवा-विवाहका निषेध करें यह बात कैसे संगत हो सकती है। नियोग प्रकरणमें विवाहके मन्त्रोंमें नियोगका उल्लेख नहीं यह बात विशेष उपयोगी और संगत भी है, किन्तु नियोग प्रकरणमें विवाह विधिके अवसरपर विधवाका पुनः विवाह नहीं कहा यह बात नितान्त व्यर्थ और प्रकरण विरुद्ध हो जाती है। नियोगके विधि निषेधके असवरपर विधवा विवाहके निषेधकी बात अचानक बिना कारण कैसे उपस्थित हो। फलत: इस स्थानपर विवाह शब्द नहीं, 'वेदन' शब्द है।वेदन शब्दका अर्थ पाणिग्रहण समझा जाता है और क्षेत्रज पुत्र उत्पादनके लिये स्त्रीका ग्रहण भी समझा जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं। वस्तुतः इस स्थानमें वेदन शब्दका विवाह अर्थ मान कर विधवा-विवाहका निषेध प्रतिपादन करनेमें उद्यत होना केवल प्रकरणसे अनभिज्ञता मात्र दर्शाता है।

यही प्रकरण जो केवल नियोग धर्मके विधि-निषेध विषयक है, विधवा-विवाहकी विधि अथवा निषेध विषयक नहीं हैं। बृहस्पतिका निर्णय देखें तो इस विषयमें और कोई संशय शेष नहीं रह सकता, जैसे—

उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव च ।
युगह्रासादशक्योऽयं कर्तुमन्यै र्विधानतः ॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतादिके नराः ।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥
अनेकधा कृताः पुत्राः ऋषिभिर्ये पुरातनैः ।
न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

(कुल्लूक भट्ट धृत)

मनुने स्वयं नियोगका विधान किया है और स्वयं ही निषेध भी किया है। युग ह्रासके कारण लोग नियोगका निर्वाह कर नहीं सकते। सत्य, त्रेता, और द्वापर युगमें लोग ज्ञान और तपसे सम्पन्न थे। किन्तु कलिमें मनुष्य शक्ति हीन हो गये हैं। पूर्व कालमें ऋषियोंने जो नाना प्रकारके पुत्रोंका विधान किया है आज कालके शक्ति हीन लोग उन सब पुत्रोंको बना नहीं सकते।

अर्थात् मनुने नियोग प्रकरणके प्रथम पांच श्लोकोंमें नियोगका स्पष्ट विधान किया है। और अवशिष्ट पांच श्लोकोंमें नियोगका स्पष्ट निषेध किया है। एक ही विषयमें, एक ही प्रकरणमें, एक ही व्यक्तिकी लेखनीसे विधान और निषेध किसी प्रकार भी संगत नहीं है। इस कारण भगवान् बृहस्पतिने यह

निर्णय किया है कि मनुने नियोगका विधान किया है वह सत्य, त्रेता और द्वापर युगके लिये है और नियोगका जो निषेध किया है वह कलियुगके लिये है। इसलिये बृहस्पतिने मनु संहिताके नियोग प्रकरणकी इस प्रकार व्याख्या की हैं, उसके अनुसार नियोग धर्मके विधि और निषेधकी बात है वह इसी प्रकरणका निचोड़ है इसमें अब कोई संदेह नहीं रहता।

इस स्थान पर यही उल्लेख करना आवश्यक है कि नारद संहिता मनु संहिताका एक भाग है। नारदने बृहत् मनु संहिताका संक्षेप किया और उसीका नाम नारद संहित हुआ,जब वर्त्तमान प्रचलित मनु संहिता भृगु प्रोक्त है तो उसका नाम भृगु संहिता होना चाहिये। नारद संहिताके आरम्भमें लिखा है।

भगवान् मनुः प्रजापतिः सर्वभूतानुग्रहार्थमाचारस्थिति हेतुभूतं शास्त्रं चकार। तदेतत् श्लोकशतसहस्त्रमासीत्। तेनाध्यायसहस्रेण मनुः प्रजापतिरुपनिबद्ध्य देवर्षये नारदाय प्रायच्छत्। सच तस्मादधीत्य महत्वान्नायं ग्रन्थः सुकरो मनुष्याणां धारयितुमिति द्वादशभिः सहस्रैः संचिक्षेप। तच्च सुमतये भार्गवाय प्रायच्छत्। सच तस्मादधीत्य तथैवायुर्ह्रासादल्पीयसी मनुष्याणां शक्तिरिति ज्ञात्वा चतुर्भिः सहस्रैः संचिक्षेप। तदेतत सुमतिकृतं मनुष्या अधीयते विस्तरेण शतसहस्रं देवगन्धर्वादयः। यस्यायमाद्यः श्लोको भवति।

आसीदिदं तमोभूतं न प्राज्ञायत किंचन।
ततः स्वयम्भूर्भगवान् प्रादुरासीच्चतुर्मुखः॥

इत्येवम धिकृत्य क्रमात् प्रकरणमनुक्रान्तं तत्रतु नवमप्रकरणं व्यवहारो नाम यस्येमां देवर्षि र्नारदः सूत्रस्थानीयां मातृकां चकार ॥

भगवान् मनु प्रजापतिने सब प्राणियोंके हितके लिये आचार रक्षाके निमित्त शास्त्र बनाया। वह शास्त्र लक्ष श्लोकोंमें था। मनु प्रजापतिके उसी शास्त्रको देवर्षि नारदने सहस्त्र अध्यायोंमें संकलन किया। देवर्षिने वही शास्त्र मनुसे पढ़ा। बहुत भारी उक्त शास्त्रको मनुष्योंके लिये अभ्यास करना दुसाध्य जानकर १२ हजार श्लोकोंमें उसका सार संग्रह किया। यह संक्षिप्त ग्रन्थ उसने भृगु वंशीय सुमतिको दिया। सुमतिने देवर्षि नारद से पढ़ा। इस प्रकार आयुके साथ साथ मनुष्योंकी शक्तिका भी ह्रास होते हुए देखकर चार हजार श्लोकोंमें उसका संक्षेप सार संग्रह कर दिया। लोग उसी सुमतिकृत मनु संहिताको पढ़ते हैं। देव गन्धर्व आदि लक्ष श्लोकों वाला विस्तृत ग्रन्थ पढ़ते हैं उसका प्रथम श्लोक यह है।

यह जगत् अन्धकार था कुछ जाना नहीं जाता था।
उसके अनन्तर भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए।

इस प्रकार आरम्भ करके क्रमसे एक प्रकरणके बाद दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है। उसमें नवां प्रकरण व्यवहार प्रकरण है। देवर्षि नारदने उसी व्यवहार प्रकरणकी यह सूत्र स्थानीय मात्रा बनाई है।

देखिये, नारद संहिता मनु संहिताका सार भाग मात्र है। नारदने लाख श्लोकोंवाली बृहत् मनु संहिताका सार मात्र संकलन किया है। पहले यह दिखलाया गया है कि इसी नारद संहितामें पतिके लापता हो जाने आदि पांच अवसरों पर स्त्रियोंके पुनर्विवाह का विधान है इसलिये लापता हो जाने आदि पांच प्रकारकी

विपत्ति आ जाने पर स्त्रियोंका पुनर्विवाह करनेका विधान केवल पराशरका ही विधान नहीं बल्कि मनुका विधान भी है। इसी कारण माधवाचार्यने ही नष्टे मृते प्रव्रजिते इस वचनको मनु वचन कहकर उद्धृत किया है। जैसे।

मनुरपि

नष्टे मृते प्रव्राजिते क्लीवे च पतिते पतौ ॥

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधियते ॥

मनुने कहा है कि

स्वामी लपता हो जाय, मर जाय, संन्यासी होजाय, नपुंसक, या पतित हो जाय तो इन पांच अपत्तियोंमें स्त्रियोंका पुनर्वार विवाह शास्त्रसे विहित है।

इसलिये विधवाका विवाह मनुके मतके विरुद्ध न होकर मनु-के मतके अनुकूल ही है। इसलिये जब पराशरने मनुका वचन ज्योंका त्यों अपनी संहितामें उठाकर विधवा-विवाहका विधान किया है तब विधवा-विवाहको मनु विरुद्ध मानकर लम्बी चौड़ी बात कहना विडम्बना मात्र है।



चौथा परिच्छेद

पराशरका
पुनर्विवाह विधान वेदविरुद्ध नहीं

किन्हीं २ महानुभावोंने * पराशरके पुनर्विवाहके विधानको वेद विरुद्ध सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। अभिप्राय यह है कि वेद इस भारतवर्षदेशका प्रधान माननीय शास्त्र ग्रन्थ हैं यदि पराशरका पुनःविवाह विधान उसी सर्व प्रधान शास्त्रके विरुद्ध है तब किस प्रकारसे विधवा-विवाह ग्रहण करने योग्य हो सकता है। भगवान् वेदव्यासने निर्णय किया है।

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।

तत्र श्रौतं प्रमाणं तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

जिस स्थानपर वेदस्मृति और पुराण इनमें परस्पर विरोध दिखाई दे तो वेदप्रमाण और स्मृति और पुराण इनमें परस्पर-विरोध हो तो स्मृति ही प्रमाण है।

प्रतिवादी महाशयोंका वेदका प्रमाण यही है।

यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्देत।

यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्देत॥

जिस प्रकार एक यूपमें दो रस्सियां बांधी जाती है। उसी

---

* श्रीयुत नन्दकुमार कविरत्न। श्रीयुत सर्वानन्द न्यायवागीश। श्रीयुत राजा कमलकृष्ण बहादुरके सभासद गण।

प्रकार एक पुरुष दो स्त्रियोंको विवाह कर सकता है। जिस प्रकार दो यूपोंमें एक रस्सी नहीं बांधी जासकती इसलिये एक स्त्री दो पति न करे।

इस वेदवचनका आश्रय लेकर उन्होंने सिद्धान्त निश्चय किया है कि स्त्रीका पुनर्विवाह वेदके विरुद्ध है।

इस स्थलमें कहना इतना ही है कि प्रतिवादी लोगोंने जो, एक स्त्री दो पुरुषोंको विवाह नहीं कर सकती इस बातको दृष्टिमें रखकर स्त्रियोंके पुनर्विवाहको वेदके विरुद्ध बतलाया है उनका यह निर्णय स्वयं वेदके तात्पर्यके अनुकूल नहीं है। ऊपर लिखे वेदवाक्यका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार एक यूपमें दो रस्सियां एक समयमें बांधी जा सकती है, उसी प्रकार एक पुरुष दो या उनसे अधिक स्त्रियोंको एक समयमें विवाह कर सकता है। और जिस प्रकार एक रस्सी एक ही समयमें दो यूपोंमें बांधी नहीं जा सकती उसी प्रकार एक स्त्री एक ही समय दो या अधिक पुरुषोंको विवाह नहीं कर सकती। यह नहीं कि एक पतिके मर जानेपर भी स्त्री अन्य पुरुषको विवाह नहीं कर सकती। ऐसा इसका तात्पर्य ही नहीं। यह तात्पर्य व्याख्या मेरी कोई स्वकपोल कल्पित नहीं। महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठने यही एक वेदवाक्य उठाकर रखा है। और इस वेदवाक्यकी जो व्याख्या की है उससे यह हमारा अभिप्राय ही साफ साफ मालूम होता है।

नैकस्याः बहवः सहपतयः।

एक स्त्रीके एक समय बहुतसे पति नहीं हो सकते।

सहेति युगपद बहुपतित्वनिषेधो विहितो नतु समयभेदेन॥

(महा० आदि० अ० १८५)

इस वेदके वचन द्वारा एक स्त्रीके एक समयमें बहुतसे विवाहोंका निषेध होता हैं। समय भेदसे बहुत पतियोंसे विवाह दोष जनक नहीं।

इसलिये प्रतिवादी महानुभावोंने वेद विरुद्ध सिद्ध करनेकी जो प्रयास किया वह सफल नहीं हुआ। प्रतिवादी महाशयों को यह विवेचना करनी आवश्यक थी कि यदि विधवा-विवाह एक समयमें भी वेद विरुद्ध होता तो सत्य, त्रेता, और द्वापर इन तीनों युगोंमें भी विधवा-विवाहकी प्रथा प्रचलित न रहती।

पाँचवाँ परिच्छेद

विधवा विवाह विधायक प्रमाण

पराशरके हैं शङ्खके नहीं ।

कोई कोई लोग यह सिद्धान्त मानते हैं कि पराशरके वचनोंके आधारपर जो विधवा-विवाहकी व्यवस्था की जाती है वह वचन शंखके हैं, पराशरके नहीं हैं। पराशरने दृष्टान्तके तौरपर इनका अपनी संहितामें उल्लेख कर दिया है।

पराशर संहिताके विधवा-विवाह विधायक वचनोंका इस प्रकार निर्णय करनेका मतलब यही है कि यदि वह वचन पराशरके न रहे तो कलियुगमें विधवा आदि स्त्रियोंके विवाहका प्रसंग फिर रही न जायगा। और इसलिये कलियुगमें विधवा-विवाह शास्त्र सिद्ध नहीं होगा। प्रतिवादी महाशय स्वयं संस्कृतज्ञ नहीं। एक प्रसिद्ध स्मार्त्त भट्टाचार्यकी व्याख्याके ऊपर निर्भर करके आपने यह निर्णय किया है। यह निर्णय किस प्रकार किया गया है उसको दर्शानेके लिये उनकी पुस्तकसे अंश उठकर रखा जाता है।

"कलिधर्मके प्रकरणमें श्रीयुत विद्यासागरके लिखे उनके अपने मनसे बना लिये गये विधवा-विवाहके प्रतिपादक अन्य मूलक पराशरके वचनोंका मर्मार्थ जाननेके अभिप्रायसे मैं विशेष

---

* श्रीयुत बाबूकृष्णकिशोर नियोगी श्रीयुत भारकंक विद्यारत्न।

विद्वान पण्डितके द्वारा उनका मर्मार्थ नीचे प्रकाशित करनेका यत्न करता हूं ।

पहले श्रीयुत विद्यासागर भट्टाचार्यने जो पराशर संहितामें पढ़े गये एक वचन मात्रका आश्रय लेकर कलियुगमें विधवा-विवाहको शास्त्रसिद्ध और अनिवार्य निश्चय करके उसका पूर्वापर सब देख भालकर उसका अर्थ निश्चय किया है उसका निवारण करना आवश्यक है ।

ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैव चिन्तयेद् ।
अनुज्ञातश्च कुर्वीत शंखस्य वचनं यथा ॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

ज्येष्ठ भ्राता रहे तो अग्न्याधानकी चिन्ता भी न करे, अनुमति हो तो कर लें इतना सब कहकर दृष्टान्त दिखाते हैं शंखका जैसा वचन है "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इत्यादि ।

पति लापता हो जाय, मर जाय, संन्यास ले ले, नपुंसक हो जाय, पतित हो जाय इन पांच आपत्तियोंमें स्त्रियोंका अन्य पति विधान किया गया है ।

ऐसे वचनोंमें शास्त्र निषिद्ध कर्मोंको किया जाने योग्य होना पता लगता जानकर भगवान पराशर मुनिने चिन्ता की कि आपत्तिकालमें इसी प्रकारकी कर्त्तव्यता और किसी स्थानपर विधान की गयी है कि नहीं, उसको पुष्ट करनेके लिये द्वापर युगमें कर्मोंको बतलानेवाले शंख ऋषिने जो "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचनसे प्रतिपादन किया था कि सन्तान उत्पत्ति करके पति और अपनेको स्वर्ग प्राप्त करानेके लिये आपत्तिकालमें अन्य

निषिद्ध कर्म जो दूसरे पतिका आश्रय कर लेना है वह भी कर लें', यह बात 'शंखस्य वचन' यथा' इस प्रकार पूर्ण शंखवचन उद्धृत करके दिखा रहे हैं।" इत्यादि।

"शंखस्य वचनं यथा" इस प्रकार अविकल शंखवचन दिखाते हैं, प्रतिवादी महाशयके इस प्रकार कहनेसे बहुत लोगोंको ऐसा प्रतीत होगा कि "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इत्यादि वचन शंखसंहितामें भी ऐसाका ऐसा ही पूरा पूरा वचन है। वस्तुतः यह वचन शंख संहितामें है ही नहीं। तब भी प्रतिवादी महाशयने 'शंखस्य वचनं यथा' कहकर अविकल शंखका वचन दिखाते हैं यह कैसे कह दिया, मैं समझ नहीं सका। जो भी हो, उस स्थानपर वैसी व्याख्या नहीं है। प्रकरणानुसार ठीक व्याख्या यही है कि—

ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैवचिन्तयेत्।
अनुज्ञातश्च कुर्वीत शंखस्य वचनं यथा॥

ज्येष्ठ भ्राता विद्यमान रहे तो कनिष्ठ भ्राता अग्नि-आधान नहीं करे किन्तु अनुमति पाकर करे यही शंखका मत है।

यही इस वचनके ठीक अर्थ हैं। पीछे आनेवाले वचनके साथ इस वचनका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शंखस्य वचनं यथा' इससे पराशरने शंखका वचन अपनी संहितामें दृष्टान्तके तौरपर उठा कर नहीं रखा और न उसकी यह व्याख्या है।

यदि "अमुकस्य वचनं यथा" ऐसी बात और किसी संहितामें न हो तबतो किसी प्रकार प्रतिवादी महाशयकी उक्त व्याख्या भी सम्बद्ध हो सकती थी। अग्न्याधानके विषयमें अत्रि संहिताका कुछ अंश हम उठा कर रखते हैं। उसे देखकर पाठक महानुभाव निर्णय कर सकते हैं कि प्रतिवादी महाशयकी व्याख्या ठीक लगती है कि नहीं। जैसे—

ज्येष्ठोभ्राता यदा नष्टो नित्यं रोगसमन्वितः ।
अनुज्ञातश्चकुर्वीत शंखस्य वचनं यथा ॥
नाग्नयः प्रतिविन्दन्ति न वेदा न तपांसि च ।
नच श्राद्धं कनिष्ठैवै विनाचैवाभ्यनुज्ञया ॥

ज्येष्ठ भ्राता लापता हो जाय या चिर रोगी रहे तो छोटा भाई अनुमति लेकर अग्न्याधान करे। शंखका यह मत है ।

ज्येष्ठ भाईकी अनुमति विना कनिष्ठ भाईका किया हुआ अग्न्याधान, वेदाध्ययन, तपस्या और श्राद्ध सिद्ध नहीं होते ।

इस स्थानपर "शंखस्य वचनं यथा" इस भागके पश्चात् "नष्टे मृते प्रव्रजिते" यह वचन होता तो शंखका वचन दृष्टान्तके तौरपर उद्धृत करनेकी बात किसी प्रकार ठीक हो जाती । यदि कहा जाय कि "शंखस्य वचनं यथा" इस भागके पीछे "नाग्नयः प्रति विन्दन्ति" यह वचन है तो यह वचन भी शंखका दृष्टान्तके तौरपर अत्रि संहितामें उठाकर रखा है तो यह भी संगत नहीं हो सकता । क्योंकि "नाग्नयः प्रति विन्दन्ति" इस वचनका अभिप्राय दृष्टान्तके तौरपर पता न लगकर पूर्वश्लोकमें कही बातके हेतुस्वरूप कही दिखाई देती है ।

अत्रिसंहिताका दूसरे स्थानमें भी "शंखस्य वचनं यथा" इस प्रकारका पाठ आया है । जैसे

गो ब्राह्मण हतानां च पतितानां तथैव च ॥
अग्निना न च संस्कारः शंखस्य वचनं यथा ॥
यश्चाण्डालीं द्विजो गच्छेत् कथंचित्काममोहितः ॥
त्रिभिः कृच्छ्रैः विशुद्धेत प्राजापत्यानुपूर्वशः ॥

जो गौ, ब्राह्मणके हाथसे मरे उनका और पतितोंका अग्निद्वारा संस्कार नहीं करे यह शंखका मत है। जो द्विज काममोहित होकर चाण्डालीसे गमन करे प्राजापत्यके विधानसे वह कृच्छ्र व्रतसे शुद्ध होवे।

इस स्थानपर शंखस्य वचनं यथा इस प्रकार लिखा है। परन्तु पीछे आये वचनको शंखका वचन मानकर उसको दृष्टान्तके तौर पर उद्धृत मानना किसी प्रकार संगत नहीं है। पूर्व वचनके साथ उत्तर वचनका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। दोनों श्लोकोंमें दो भिन्न २ विषय कहे गये दीख रहे हैं। और—

स्पृष्टा रजस्वलाऽन्योऽन्यं ब्राह्मण्या ब्राह्मणी च या।
एकरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुद्धयति।
स्पृष्टां रजस्वलाऽन्योऽन्यं ब्राह्मण्या क्षत्रिया च या।
त्रिरात्रेण विशुद्धिःस्यात व्यासस्य वचनं यथा च॥
स्पृष्टा रजस्वलान्योऽन्यं ब्रह्मण्या वैश्यसम्भवा।
चतूरात्रं निराहारा पंचगव्येन शुद्धयति॥
स्पृष्टा रजस्वलाऽन्योऽन्यं ब्रह्मण्या शूद्रसम्भवा।
षड्रात्रेण विशुद्धिःस्यात् ब्राह्मणी कामकारतः॥
अकामतश्चरेद्दैवं ब्राह्मणी सर्वतःस्पृशेत्।
चतुर्णामपि वर्णानां शुद्धिरेषा प्रकीर्त्तिता॥

ब्राह्मणी यदि रजस्वला ब्राह्मणीको स्पर्श करे तो एक रात्र निराहार रहके पंचगव्य द्वारा शुद्ध होती है।

ब्राह्मणी यदि रजस्वला क्षत्रियाको स्पर्श करे तो तीन रात्र शुद्ध होती है यह व्यासका मत है।

ब्राह्मणी यदि रजस्वला वेश्याको स्पर्श करे तो चार रात्र निराहार रहकर पञ्चगव्य द्वारा शुद्ध होती है।

ब्राह्मणी यदि रजस्वला शूद्राको स्पर्श करे तो छः रात्रमें शुद्ध होती है। इच्छा पूर्वक स्पर्श करे तो यह विधान है। यदि दैववश स्पर्श हो जाय तो दैव प्रायश्चित्त करे। चारों वर्णोंकी यही शुद्धि-व्यवस्था कही गयी।

प्रतिवादी महाशयकी व्याख्याके अनुसारतो यहां तीसरा श्लोक व्यास वचन मानकर उद्धृत किया कहा जायगा क्योंकि पूर्व वचन के अन्तमें 'व्यासस्य वचनं यथा' इस प्रकार लिखा है। किन्तु द्वितीय श्लोकके अन्तमें 'व्यासस्य वचनं यथा' है इस कारण तृतीय श्लोकको व्यासका वचन दृष्टान्त रूपसे उद्धृत किया गया कहना किसी प्रकार ठीक नहीं होगा। क्योंकि पाचों श्लोकोंमेंसे प्रत्येकमें स्वतन्त्र रूपसे व्यवस्था कही गयी है।

और यदि अन्य संहितामें "अमुकस्य वचमं यथा" यह वाक्य कहकर किसो प्रकार अन्यका वचन दृष्टान्त रूपसे उद्धृत हुआ कहा भी जाय परन्तु—

अपः खरनखस्पृष्टाः पिवेदाचमने द्विजः।
सुरां पिवति सुव्यक्तं यमस्य वचनं यथा।

यदि ब्राह्मण गधेके नखोंसे छूऐ जलसे आचमन करे तो साफ वह सुरा पान करता है यह यमका वचन है।

स्तेयं कृत्या सुवर्णस्य राज्ञे शंसेत मानवः।
ततो मुसलमादाय तेन हन्यात्ततो नृपः।
यदि जीवति स्र स्तेनस्ततः स्तेयात्प्रमुच्यते।
अरण्ये चीरवासावा चरेद्ब्रह्महणोव्रतम्।

समालिंगेत्स्त्रियं वापि दीप्तां कृत्वायसा कृताम् ।

एवंशुद्धिः कृतास्तेये संवर्त्तवचनं यथा ॥

मनुष्य सुबर्ण चुराकर यदि राजाके निकट कहे और राजा मूसलसे चोरको मारे। यदि चोर जीता रहे तो वह चोरीके पाप से मुक्त हो जाता है या वह चीर पहनकर जंगलमें जाकर प्रायश्चित्त करे, या लोहकी बनी स्त्रीकी मूर्त्तिको अग्निसे लाल तपाकर आलिङ्गन करे। इस प्रकार करने पर सुवर्णकी चोरीके पापसे वह मुक्त हो जाता है यह संवर्त्तका मत है।

इन दोनों स्थानोंमें किसी औरके वचनोंको दृष्टान्तके तौरपर उठाकर रखा है यह किसी प्रकार भी नहीं दीखता, क्योंकि यम और संवर्त्त अपनी २ संहितामें "यमस्य वचनंयथा" और "संवर्त्त वचन" ऐसे कहते हैं।

वस्तुतः जिस जिस स्थानमें "अमुकस्य वचनं यथा" इस प्रकार लिखा हो तो वहां फलानेका यही मत है यही अर्थ अभिप्रेत है। यह अर्थ कभी कभी भी अभिप्रेत नहीं कि उससे अगला श्लोक दृष्टान्त रूपसे कहा गया है। यदि 'अमुकस्य वचनं यथा' इस प्रकार लिखनेका तात्पर्य दृष्टान्तके तौरपर कहा जानाही कहा जाय तो यम और संवर्त्त अपनी२ संहितामें 'यमस्य वचनं यथा' सवर्त्त वचनं यथा" इस प्रकार क्यों कहते। आप खूब समझ लीजिये कि प्रति-वादी महाशयने नितान्त व्यग्र होकर स्मृतिके अर्थ और तात्पर्यको विना समझे पराशर संहिताका मर्म खोलनेका यत्न किया है।

अतएव 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' यह वचन शंखका है पराशरका नहीं इसलिये विधवा आदि स्त्रियोंका पुनः विवाह द्वापर युगका आपद्धर्म होगा कलियुगका धर्म नहीं, यह व्यवस्था करनेके लिये प्रतिवादी महाशयका प्रयास सफल नहीं होता।

छठां परिच्छेद

विधवा विवाह विधायक श्लोक
पराशरके बनावटी नहीं है

किन्हीं लोगोंका निर्णय यह है कि

(१) कलियुगमें यदि विधवा विवाह पराशरको सम्मत होता तो वे वैधव्यको दण्ड न मानते।

(२) स्वामीके नपुंसक रहते हुए स्त्रीका पुनर्विवाह करना यदि पराशरको अभिमत होता तो पराशर संहितामें क्षेत्रज पुत्रका विधान होना किस प्रकार सम्भव हो सकता है। क्योंकि स्त्री नपुंसक स्वामीको छोड़कर विवाह करे तो वह दूसरेकी स्त्री हो जायगी। नपुंसककी तो स्त्री न रहेगी। अतएव नपुंसकके लिये क्षेत्रज पुत्र उत्पादन करनेकी सम्भावना न रहेगी।

(३) इसीलिये विधवा विवाहके विधायक श्लोक पराशरके नहीं। पराशरके होते तो पूर्वापर विरोध न होता। भारतवर्षकी दुरवस्थाके जमानेमें हिन्दू राजाओंके इच्छानुसार ये बनावटी श्लोक संहितामें घुसेड़ दिये हैं।

कलियुगमें विधवा-विवाह पराशरके सम्मत होता तो वे वैधव्य दशाको दण्ड न मानते ऐसा कहनेका यही अभिप्राय है कि यदि पतिकी मृत्यु होने पर स्त्री पुनः विवाह कर सके तो

+ भवानी पुर निवासी श्रीयुत बाबू प्रसन्न कुमार मुखोपाध्याय।

उसको पति वियोगका दुःख क्यों हो। यदि दुःखका कारण न हो तो विधवा होना किस प्रकार दण्ड कहा जा सकेगा। यह आपत्ति किसी प्रकार भी विचार संगत नहीं है। क्योंकि पुनर्विवाहकी सम्भावना होने पर पति वियोग हो जाने पर उसके विरहकी असह्य वेदना और दुःसह क्लेश स्त्री न पावेगी यह बात अनुभवके अत्यन्त विरुद्ध है।

देखिये, पुरुषका जितनी बार स्त्रीसे वियोग होता है उतनी बार वह विवाह भी कर सकता है और प्रायः करते भी हैं। और स्त्री वियोग होने पर पुरुष अपनेको हत भाग्य समझते हैं। वे शोकमें अत्यन्त दुःखित और मोहके कारण नितान्त बेसुध हो जाते हैं। जब पुनर्वार विवाहकी सम्भावना या निश्चय रहते हुए भी पुरुष स्वयं स्त्रीवियोग हो जाने पर इतना शोक ग्रस्त हो जाता है तब जिस स्त्री जातिका मन प्रणय, प्रेमके आस्वादन और शोकानुभवके लिये पुरुषकी अपेक्षा अनेक अंशोंमें श्रेष्ठ है वह स्त्री पुनर्वार विवाहका सम्भावना रहने पर पति वियोगको अत्यधिक क्लेशका कारण या अत्यधिक दौर्भाग्यकी बात न समझेगी यह किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। फलतः जब स्त्री पुरुषोंका सम्बन्ध गृहस्थ आश्रममें समस्त सुखोंका मूल कारण है, उन्हीं स्त्री पुरुषोंके बीचमें एककी मृत्यु होने पर दूसरेको असह्य क्लेश होगा, इसमें संदेह नहीं। हां यह बात भी ठीक है कि जीवन भर विधवापनका भोग करनेसे जितना कष्ट होता है कुछ काल तक होने वाले विधवापनका क्लेश उतना नहीं होगा। किन्तु कुछ काल तक असह्य यातनाका भोग करना भी तो दुर्भाग्यका विषय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रथम स्त्रीके वियोग होने पर यद्यपि पुरुष दूसरी बार विवाह करता है और वह नव प्रणयनीके प्रणयपाशमें बंध जाता है तथापि वह

पूर्व प्रियाके प्रेम और अनुरागको एक ही बारमें भुला नहीं सकता। जब जब वह पूर्वका वृत्तान्त उसके स्मृति पर आता है तभी उसका चिरकालका बुझा हुआ शोकानल अन्तमें कुछ क्षणके लिये भड़क ही उठता है। अतएव स्त्री जातिके सौभाग्यके लिये यदि विधवा विवाहकी प्रथा प्रचलित हो जाय तो स्त्री पुनर्वार विवाहकी सम्भावनाके कारण :पतिवियोगसे दुःखित न होगी और पुनर्विवाह करके दूसरे पुरुषकी प्रेम पात्र होकर पूर्व पतिके प्रणय और अनुरागको एक बार ही भूल जायगी या विशेष समय-में स्मरण हो उठने पर भी उसके हृदयमें शोक न उठेगा यह बात किसी प्रकार भी हृदय स्वीकार नहीं करता। यदि कहें जो स्त्रियां अपने दरिद्र, व्याधि ग्रस्त, रोगी, मूर्ख स्वामीके प्रति अनादर या अश्रद्धा प्रकट करें तो उस स्वामीकी मृत्यु होनेपर उसके वियोग-में किस प्रकार दु:खित होगी? इसलिये ऐसे अवसरोंमें वैधव्य दशाको दण्ड माननेका विधान किस प्रकार संगत होगा। यह आशंका भी विचार संगत नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसे अवसरों में यह बात तो ठीक है कि स्त्रीको अपने प्रिय स्वामीके वियोगका दुःख न करना होगा। किन्तु वैधव्यके कारण और जो समस्त असह्य क्लेश हैं उनका भोग कौन निवारण करेगा? खास कर, स्त्री दरिद्र, रोगी और मूर्ख आदि पतिका अनादर करके एक बार ही विधवा होकर तो निस्तार नहीं पा जायगी। इस अपराधमें उसको बार बार विधवा होना होगा। और और समयोंमें उसको रण्डापाके कारण सबप्रकारके कष्ट भोगने ही पड़ेंगे। इसलिये पुनर्विवाहकी सम्भावना रहनेपर वैधव्य दशाको दण्ड रूपमें विधान करना नहीं हो सकता यह कहना विचार संगत नहीं। इसलिये विधवा विधायक वचनोंके साथ विधवा विवाह विधायक श्लोकों का विरोध नहीं बनता। विधवा होना किसी प्रकार भी क्लेशकर

न रहेगा, वैधव्य दशाको दण्ड मानना असङ्गत हो जायगा ऐसा हो तो दोनों वचनोंका परस्पर विरोध होगा। इसकी और भी विवेचना करना आवश्यक है।

दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्त्तारं या न मन्यते

सां मृता जायते व्याघ्री वैधव्यं च पुनः पुनः ॥

जो नारी दरिद्र, रोगी मूर्ख पतिके प्रति अनादर करे वह मर कर नागिन बनती है और पुनः २ विधवा होती है।

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्त्तारं नोपसर्पति ॥

साम्रृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥

जो स्त्री ऋतु स्नान करके अपने पतिसे संग नहीं करती वह मर कर नरकमें जाती है और बार बार विधवा होती है।

अदुष्टां पतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत् ॥

सप्त जन्मभवेत्स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः॥

जो पुरुष अपनी दोषरहित अपतित भार्याको यौवन कालमें छोड़ देता है वह सात जन्मोंमें स्त्री होता है और बार बार विधवा होता है।

इन तीन वचनोंमें जब बार बार विधवा होना लिखा है इनका विधवा-विवाह-विधायक वचनके साथ विरोध न होकर इन तीन वचनोंसे ही विधवा-विवाह पुष्ट भी होता है। यदि विधवाका पुनर्वार विधान न हो तो विधवाका बार बार विधवा होना भी किस प्रकार सम्भव हो सकता है। प्रतिवादी महाशयने "बार बार विधवा हो जाती है" इसका अभिप्राय लिखा है कि हरेक जन्ममें विधवा हो जाती है। परन्तु यह व्याख्या प्रथम श्लोकमें

ठीक जोड़ नहीं खाती। क्योंकि मर कर जब नागिन बनी तब जन्म जन्ममें विधवा होकर रण्डापेको बार बार भोग करनेकी सम्भावना कहाँ रहेगी। इसी प्रकार तीसरे श्लोकमें भी 'पुनः पुनः' यह एकदम व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि "सप्तजन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यं च" सात जन्मों तक स्त्री होता है और बिधवा" इतना मात्र कहनेसे काम चल जाता तो 'पुनः पुन' इन दो पदोंके कहनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। 'सात जन्म स्त्री रहती और वह भी विधवा, इतना ही कहनेसे वह प्रति जन्ममें विधवा रहती है यह बात सहजमें जानी जाती है। सात जन्म स्त्री बने और विधवा होती है इससे प्रति जन्ममें पुनः पुनः विधवा होती है यही साफ प्रतीत होता है। इसलिये यह विधवा-विवाहका विरोधक नहीं बल्कि विशेष रूपसे पोषक ही है।

इसीपर और भी विचार करना आवश्यक हैं। "पुनः पुनः" शब्दका अर्थ 'बार बार' यही प्रतीत होता है। यहां 'जन्म जन्ममें' यह अर्थ प्रतीत नहीं होता। पुनः पुनः कहता है, पुनः पुनः देखता है, पुनः पुनः लिखता है, इत्यादि जिन २ स्थानोंपर "पुनः पुनः" शब्दका प्रयोग रहेगा सब जगह बार २ यही अर्थ जाना जायगा। तब जो बात एक जन्ममें नहीं हो सकती वह बात 'पुनः पुनः' शब्दके प्रयोग करनेसे तात्पर्यके अनुसार जन्म जन्ममें यही अर्थ जाना जा सकता है। जब 'पुनः पुनः नरकमें जाता है' ऐसा कहा जाता है तब जन्म २ में नरकमें जाता है यही अर्थ तात्पर्यके अनुसार प्रतीत होता है। उसका कारण यही है कि एक जन्ममें बार २ नरकमें जाना सम्भव नहीं। इसलिये प्रति जन्म जन्ममें नरक जाना होता है यही अर्थ जाना जाता है। इस स्थान पर भी "पुनः पुनः" शब्दका बार बार यही अर्थ ज्ञात होता है 'जन्म जन्म' यह अर्थ शब्दका नहीं है। तात्पर्य बश 'जन्म

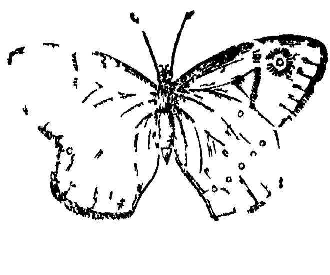
जन्म' यह अर्थ प्रतीत मात्र होता है। उसी प्रकार संहितामें विधवा आदि स्त्रियोंका पुनर्वार विवाहका विधान न रहे तो एक जन्ममें बार २ विधवा होना सम्भव न रहे। तब तात्पर्यवश जन्म जन्ममें ऐसा ही अर्थ करना पड़ता। किन्तु जब पराशर संहितामें स्त्रीके पुनर्विवाहका विधान है तब एक जन्ममें ही बार२ विधवा होना पूरी तरहसे हो सकता है। इसलिये "पुनः पुनः" शब्दका 'जन्म जन्ममें' अर्थ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। पुनः पुनः शब्दका बार बार यह अर्थ एक जन्ममें असंगत न रहे तो जन्म जन्ममें यह अर्थ भी नहीं करना होगा।

नपुंसक पतिका परित्याग करके स्त्रीका पुनःवार परित्याग पराशरको सम्मत हो तो पराशर संहितामें क्षेत्रज पुत्रका विधान रहना किस प्रकार हो सकता है यह आशंका भी विचार संगत नहीं होती है। स्त्री नपुंसक पतिका परित्याग करके विवाह कर सकती है यह तो ठीक है। किन्तु यदि विवाह न करे तथा विवाहके पूर्व पहले स्वामीके वंश रक्षाके लिये उसकी अनुमतिके अनुसार, शास्त्रके विधानके अनुकूल नियुक्त पुरुषसे क्षेत्रज पुत्रका उत्पादन आवश्यक जाना जाय तो अनायास हो सकता है। और स्वामी पुत्रोत्पादन न करके मरते समय यदि स्त्रीको क्षेत्रज पुत्र पैदा करलेने की आज्ञा दे जाय तो भी यदि वह स्त्री पुनर्विवाह करे तो इस विवाहके पूर्व पहले स्वामीके वंश रक्षाके लिये क्षेत्रज पुत्र उत्पादन करना भी हो सकता है। और पराशरने जिन पांच अवसरोंमें पुनःविवाहका विधान किया है उस उस अवसरमें यदि क्षेत्रज पुत्रका उत्पादन नितान्त असम्भव कहा जाय तो भी क्या हानि है। ऐसा होनेपर भी क्षेत्रज पुत्रोंके उत्पादनके अवसरोंका अभाव तो नहीं होता। क्योंकि स्वामी चिररोगी हो अथवा पुत्रोत्पादन करनेमें अशक्त हो, तो वंश रक्षाके

लिये उसकी आज्ञासे शास्त्रानुकूल नियुक्त पति द्वारा क्षेत्रज पुत्रका पैदा कर लेना सम्भव हो सकता है। इसलिये स्त्रीका पुनर्विवाह विधान रहते हुए क्षेत्रज पुत्रका उत्पन्न करनेका विधान रहना सम्भव नहीं। यह आपत्ति उठाकर विवाह विधायक वचनों के साथ विरोध रहना किसी भी प्रकारसे विचार और तर्क पर नहीं ठहरता। इसलिये प्रथम निबन्धमें नन्दपण्डितके मतानुसार क्षेत्रज शब्द वाच्य पुत्र विधायक श्लोककी जिस प्रकार व्याख्या की गयी है उसके अनुसार पराशरके मतमें कलियुगमें औरस, दत्तक, और कृत्रिम ये तीन प्रकारके पुत्र ही सिद्ध होते हैं क्षेत्रज पुत्रका तो विधान ही सिद्ध नहीं होता। जो हो क्षेत्रज पुत्रका विधान हो या न हो किसी विकल्पमें भी इस वचनका विधवा विवाह-विधायक वचनके साथ विरोध सिद्ध नहीं हो सकता।

पराशरने जिस श्लोकमें वैधव्य दशाको दण्ड रूपमें बतलाया है और जिस श्लोकमें क्षेत्रज शब्द है उन दोनों वचनोंके साथ विवाह विधायक वचनोंका विरोध रहना और एकही पुरुषके बनाये ग्रन्थमें परस्पर विरुद्ध वचनोंका रहना सम्भव नहीं, यह आपत्ति उठाकर प्रतिवादी महाशयने विधवा-विवाह-विधायक वचनोंको बनावटी श्लोक माना हैं। और यह बनावटी श्लोक भारतवर्षकी दुरवस्थाके समय हिन्दु राजाओंके इच्छानुसार डाला गया है यह सिद्धान्त निकाला है। किन्तु जब इन तीन श्लोकोंका परस्पर विरोध नहीं तब परस्पर विरोधकी आपत्ति उठाकर विवाह विधायक श्लोकोंको बनावटी कहने और खास समय पर किसी आदमीने अपनी इच्छानुसार संहितामें डाल दिये इस प्रकार निर्णय करनेका अधिकार नहीं। माधवाचार्य बहुत प्राचीन हैं। उन्होंने पराशर संहिताकी व्याख्या करते हुये इस वचनका प्रमाण दिया है और व्याख्या भी की है। इस-

लिये प्रतिवादी महाशयोंको अन्तमें यही मानना पड़ेगा कि निदान माधवाचार्यके समय यह श्लोक बनावटी नहीं माना जाता था यदि आपके मतके विपरीत होनेसे ही इसको बनावटी कहा जायगा तो लोगोंके मत तो इतने भिन्न २ हैं कि प्रायः सब श्लोक ही एक एक करके बनावटी हो जायेंगे।



सातवाँ परिच्छेद

पराशर वचन

विवाह विधायक हैं विवाह निषेधक नहीं।

किन्हीं महाशयोंने निर्णय किया है कि पराशरने विधवा स्त्रियोंके लिये पुनर्विवाह विधान नहीं किया। "पतिरन्यो विधीयते" इस चरणमें 'विधीयते' पदसे पूर्व अकार था जो लोप हो गया है। इस कारण इसका अर्थ 'न विधीयत' ऐसा होता है। 'न विधीयत' कहनेसे विधान नहीं है ऐसा ही अर्थ ज्ञात होता है। इसलिये पराशरके वचनमें विधवाके विवाहकी विधि न होकर निषेध ही सिद्ध होता है।

इस प्रकारकी कल्पनासे स्पष्ट विधिवाक्यको निषेधका प्रतिपादक सिद्ध करनेकी चेष्टा करना केवल असाध्य साधन करना मात्र है। प्रतिवादी महाशयका अभिप्रेत निषेध प्रतिपादन किसी प्रकार संगत नहीं और न संहिताकर्त्ता ऋषिका अभिप्राय ही ऐसा माना जा सकता है। विदित होता है कि नारद संहिताको देखते तो प्रतिवादी महाशय ऐसी निषेध-कल्पना न करते। क्योंकि "नष्टे मृते प्रब्रजिते" इस वचनके 'विधीयते' इस पदमें यदि 'अविधीयते' ऐसा बोलें और उससे विधवा आदि स्त्रियोंका पुनर्वार विवाहका निषेध करनेकी चेष्टा करें तो पतिके लापता होने आदि अवसरोंमें ब्राह्मण जातिकी स्त्री, ८ वर्ष, पुत्र न हों तो

श्री रामपुर निवासी श्रीयुक्त बाबूकालिदास मैत्र।

चार वर्षतक प्रतीक्षा करके अन्य पुरुषके साथ विवाह करे यह बात किस प्रकार संगत हो सकती है। यदि "नष्टे मृते प्रव्रजिते" इस वचनमें विवाहकी विधि सिद्ध न हो तो उसके पिछले वचन में प्रवासी पतिके लिये आठ वर्ष या चार वर्ष प्रतीक्षा करके विवाह कर ले इस प्रकार विशेष विधान करना सर्वथा पागलपनकी बात हो जायगी।

इसके अतिरिक्त, 'विधीयते'से भिन्न दूसरा 'अविधीयते' ऐसा पद पाठ कहीं देखा नहीं जाता, व्याकरणके अनुसार क्रियापदके साथ नञ समास नहीं होता। यह पद असिद्ध और अप्रसिद्ध है यह बात प्रतिवादी महाशय स्वयं मानते हैं। अन्तमें अन्य उपाय अवलम्बन करके व्याकरणके अनुसार पद सिद्ध करनेके लिये जो प्रयास किया वह भी सफल नहीं हुआ। क्रियावाचक पदके साथ नञ्-समास नहीं होता इस भयसे आपने नञ्-समास की बातही छोड़ दी, विधीयते इस क्रियापदके साथ नञ्-समास नहीं हुआ, अर्थात् 'विधीयते' इस क्रिया पदके साथ निषेधवाचक 'न' शब्दका समास करके 'न'के स्थानमें 'अ'हुआ तब अविधीयते पद हुआ ऐसा माना नहीं प्रत्युत 'अ' स्वयं निषेधवाचक अव्यय है यह विधीयते पदके पूर्व स्वतन्त्र रूपसे विद्यमान है। व्याकरणके सूत्रके अनुसार 'अन्यो' इस पदके ओकारसे परे 'अ' इसका लोप हो गया है। किन्तु व्याकरणके एक सूत्रमें जिस प्रकार पदमें एकार और ओकारसे परे अकार का लोप करने का विधान है उसी प्रकार व्याकरणके दूसरे सूत्रमें एक स्वरके अव्यय के साथ सन्धि करनेका निषेध भी है। अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, इत्यादि एक स्वर अव्यय शब्दके साथ सन्धि और और सन्धिके कारण लोप, दीर्घ, आकार व्यत्यय आदि कोई कार्य नहीं होता। इसलिये अविधीयते इस स्थान पर 'अ' एक

स्वतन्त्र पद्की कल्पना करें तो व्याकरणके अनुसार इस अकारका लोप नहीं हो सकता। इसलिये प्रतिवादी महाशयने अपने मतलबका अर्थ सिद्ध करनेमें खूब लग कर जिस प्रकार पद्के एकार और ओकारसे परे आये अकारको लोप करनेवाला सूत्र खोज लिया है, उसी प्रकार एक स्वर अव्यय शब्दके सन्धि निषेधक सूत्रके विषयमें भी अनुसन्धान करना आवश्यक था। यदि कहें कि माना, व्याकरणमें एकस्वर अव्यय शब्दके सन्धिका निषेध है किन्तु ऋषि लोग व्याकरणके विधि निषेधका पालन नहीं करते। इसलिये व्याकरणमें एक स्वर अव्ययके साथ सन्धि का निषेध रहने पर भी ऋषिवाक्यमें ऐसे सन्धिके होनेमें कोई बाधा नहीं। तब तो प्रतिवादी महाशयके प्रति हमारा यह प्रश्न है कि व्याकरणमें क्रिया पद्के साथ नञ् समासका निषेध रहते हुए भी ऋषि वाक्यमें उस प्रकारका समास होनेमें क्या बाधा है। इसलिये प्रतिवादी महाशय जब व्याकरणमें क्रियापद्के साथ नञ् समासका निषेध देखकर व्याकरणका नियम तोड़कर ऋषिवाक्य में नञ् समासके लिये सहमत न हुए और व्याकरणसे पद् सिद्ध करनेके लिये तैयार हो गये तब व्याकरणमें एक स्वर अव्यय शब्दके साथ सन्धि स्वीकार करके व्याकरणका नियम लंघन करना मानने लगे तो यह महा-अवैयाकरणका काम है।

प्रतिवादी महाशय इस असंगत कल्पनाको पुष्ट करनेके लिये कहते हैं कि यदि 'अविधीयते' न कहकर 'विधीयते' कहें अर्थात् पराशरके वचनको विवाहका निषेध न मानकर विवाहका विधान मान लें तो पराशर संहिताका आगा पोछा सब परस्पर विरोधी हो जाता है। पराशरने स्त्रियोंकी वैधव्य दशाको विशेष अपराधका दण्ड मान कर उल्लेख किया है और ऋतुमती कन्याके विवाह में दोष दर्शाया है। यदि विधवाका विवाह पराशरको स्वीकार

होता तो विधवापनकी दशाको दण्ड रूपसे न कहते और ऋतु-मतीके विवाहमें दोष न बतलाते।

वैधव्य दशाको दण्ड मानकर विधान करनेसे विधवाके विवाह-का विधान करने वाले वचनके साथ विरोध हो सकता है कि नहीं यह पहले दिखलाया जा चुका है। अब ऋतुमतीके विवाह दोष कहनेसे पूर्वापरका विरोध हो सकता है कि नहीं उसका विचार करना भी आवश्यक है। प्रतिवादी महाशयका अभिप्राय यही मालूम होता है कि विधवा विवाह प्रचलित हो जायगा तो जिन विधवाओंका ऋतु दर्शन (मासिक धर्म) हो जाता है उनका विवाह हो जायगा। किन्तु जब पराशरने वैसी कन्याके विवाहमें दोष कहा है तब विधवा विवाह किस प्रकार पराशरको अभिप्रेत हो सकता हैं। अभिप्रेत होता तो उस प्रकारकी कन्याका विवाह करने वाला पुरुष उसके मतमें निन्दनीय और प्रायश्चित्ती न होता।

प्रतिवादी महाशयकी यह आपत्ति किसी प्रकार संगत और तर्क विचारके आगे ठहर नहीं सकती। क्योंकि पराशरने ऋतुमती कन्याके विवाहमें जो दोष कहा है वह कन्याके प्रथम विवाहके लिये है, विधवा आदिके विवाहके लिये नहीं। इस प्रकरणका पूर्वा-पर पर्यालोचना करें तो यही निःसन्देह प्रतीत होगा जैसे—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी॥
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्यस्याः पिवन्ति पितरः स्वयम्॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च,।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
यस्तां समुद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः ।
असम्भाष्योह्यपांक्तेयः स ज्ञेयोवृषलीपतिः ॥
यः करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवने द्विजः ।
सभैक्ष्यभुग् जपेन्नित्य त्रिभिर्वर्षैं विशुध्यति ॥

आठ वर्षकी कन्याको गौरी कहते हैं नव वर्षकी कन्याको रोहिणी कहते हैं, दश वर्षकी कन्याको कन्या कहते हैं, उसके ऊपर ११ वें वर्षमें कन्याको रजस्वला कहते हैं, १२ वां वर्ष उपस्थित होनेपर जो पिता कन्याका दान नहीं करता उसके पितर प्रति मास उस कन्याके मासिक धर्मके रक्तको पीते हैं। कन्याको रजस्वला देख कर ही माता पिता और ज्येष्ठ भाई तीनों जने नरकको जाते हैं, जो ब्राह्मण अज्ञानसे अन्धा होकर उस कन्याको विवाह कर लेता है वह अपांक्तेय, और वृषली पति कहाता है अर्थात् उसके साथ भाषण भी न किया जाय एक पंक्तिमें बैठकर उसके साथ भोजन न किया जाय, और उसकी इस स्त्रीको बृषली कहा जाय। जो द्विज एक रात वृषलीका सेवन करे वह तीन वर्ष तक भिक्षान्न खाकर और जप करके शुद्ध होता है।

आठवें नवें और दशवें वर्ष कन्या दान किया जाय, बारह बष उपस्थित होने पर कन्यादान न किया जाय तो पिता माता और ज्येष्ठ भाई नरक भोगी हों। जो इस कन्याको विवाह करे वह निन्दनीय व प्रायश्चित्तके योग्य है यह बात केवल प्रथम विवाहके लिये है इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। प्रतिवादी महाशयने पांच श्लोकोंमेंसे केवल दो श्लोकोंको अपने मतलबका

पोषक देखकर उद्धृत कर दिया और उनको विधवाके विवाहके पक्षमें लगानेकी चेष्टा की है। किसी प्रकरणके दो श्लोक, एक श्लोक, अथवा आधा श्लोक क्या? यदि चेष्टा की जाय तो सारा का सारा प्रकरण लगाया जा सकता है। किन्तु प्रकरण पर्यालोचन करने पर उस प्रकारकी संगति लगानेमें सर्वथा अन होनी घटना हो जायगी। और पहले दिखाया गया है कि नारद संहितामें जब सन्तान हो जाने पर भी स्त्रियोंकेविवाहका विधान है और—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ॥

क्या अक्षतयोनि क्या क्षतयोनि जिस स्त्रीका पुनर्विवाह संस्कार हो उसको पुनर्भू कहा जाता है

इस याज्ञवल्क्य वचनमें भी जब क्षतयोनिके लिये विवाह संस्कारकी आज्ञा दिखाई देती है तब विवाहके पूर्व कन्याका ऋतु दर्शन और पितृपक्ष और पति पक्षमें जो दोष कहा हैं वह दोष यहां लगानेकी चेष्टा करके विधवा-विवाहको निषिद्ध सिद्ध करनेके लिये उद्यत होना किसी भी फलका साधक नहीं हो सकता।

आठवाँ परिच्छेद

दीर्घतमाका नियम स्थापन

विधवा विवाहका निषेध नहीं करता

कई लोग कहते हैं कि

पांचवें वेद महाभारतके आदि पर्वमें इस लोकमें स्त्रियोंके लिये एक पति ही का नियम बांध दिया है। जैसे

दीर्घतमा उवाच—

अद्य प्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता ॥

एक एव पति र्नार्या यावज्जीव परायणम् ॥

मृते जीवति या तस्मिन् नापरं प्राप्नुयान्नरम् ॥

अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः ॥

दीर्घतमा कहते हैं कि मैं आजसे लोकमें मर्यादा स्थापित करता हूं कि नारीका एक ही पति होगा, वह जीवन भर उसका आश्रय करेगी, वही पति यदि मर जाय या जीवित रहे तो भी नारी अन्य पुरुषको प्राप्त न हो। नारी अन्य पुरुषके पास जायगी तो निःसन्देह पतित होगी।

+ पूर्वोक्त एवं राजा कमल कृष्ण बहादुरके समासद् गणने भी यही आपत्ति उठाई है।

इसका कहनेका तात्पर्य यही है कि जब भारतमें स्त्रियोंके लिये जीवन भरके लिये एक मात्र पतिको आश्रय करके जीवन काल गुजारनेका नियम है और उसका उल्लंघन करनेसे नरकमें जानेकी व्यवस्था देख पड़ती है तब स्त्री दूसरी बार विवाह कर सके इस प्रकारकी बात किस प्रकार संगत हो सकती है।

प्रतिवादी महाशयने दीर्घतमाका नियम स्थापन देखकर स्त्रियोंके लिये शास्त्रके अनुसार पुनर्वार विवाहका निषेध किस प्रकार समझ लिया यह हम कह नहीं सकते। दीर्घतमाके वाक्य का यथार्थ अर्थ यही है कि आजसे मैं लोकमें यह नियमस्थापन करता हूं कि पति ही स्त्रियोंका जीवन भर परम गति होगा। अर्थात् स्त्री पति परायण हो कर ही अपना जीवन काल बितावेगी स्वामी मर जाय या जीवित रहे, स्त्री अन्य पुरुषके पास न जाय गी इसका तात्पर्य यही है कि स्त्री केवल पतिका आश्रय लेकर जीवन यापन करे वह स्वामीके जीवित रहते हुए या मरने पर भी अन्य पुरुषके पास जाय अर्थात् व्यभिचारिणी हो तो पतित हो जायगी।

पहले कालमें व्यभिचार दोष नहीं माना जाता था यह बात महाभारतके दूसरे प्रकरणसे स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसे

ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते।
नातिवर्त्तव्य इत्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातन्त्र्यं स्त्री किलार्हति।
धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते॥

पाण्डु कुन्तीके प्रति कहता है कि हे पतिव्रते राजपुत्री धर्मज्ञ लोग इसीको धर्म जानते हैं कि प्रत्येक ऋतु कालमें स्त्री स्वामी

को उल्लंघन न करे। शेष अन्य अन्य समयोंमें स्त्री स्वच्छन्द-चारणी हो सकती है, साधु पुरुष इसीको पुराण धर्म कहते हैं।

अर्थात् ऋतु कालमें स्त्री अपने सन्तानकी शुद्धिके लिये स्वामीकी सेवा करे, वह अन्य पुरुषके पास न जावे। ऋतुकाल को छोड़कर और समयमें स्वछन्द होकर और पुरुषके पास भी जा सकती है। यह व्यवहार पूर्वकालमें साधु समाजमें धर्म माना जाता था। स्त्री जातिकी यह स्वच्छन्द विहारकी प्रथा जो पहले प्रचलित थी दीर्घतमाने उसी प्रथाको मिटानेके लिये नियम स्थापन किया। दीर्घतमाने स्पष्ट कर दिया कि स्वामीके जीवित रहने या मर जानेपर स्त्री अन्य पुरुषके पास न जावे, अन्य पुरुषके पास जानेसे वह पतित हो जायगी। इससे स्त्रीका अन्य पुरुषके पास जाना अर्थात् व्यभिचारिणी होनेका निवारण ही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसा तात्पर्य नहीं है कि वह दूसरे पुरुषका आश्रय ही नहीं कर सकती। इस प्रकरणका पूर्वापर आलोचन चिर प्रचलित व्यभिचार धर्मके निषेधसे अतिरिक्त यथा शास्त्र दूसरे पुरुषके आश्रय करने अर्थात् दूसरे पतिके ग्रहण करनेका निषेध प्रतीत नहीं होता। जैसे—

पुत्रलाभाच्च सा पत्नी न तुतोष पतिं तदा ॥
प्रद्विषन्ती पतिर्भार्या किं मां द्वेक्षीति चाब्रवीत् ॥

प्रद्वेषी उवाच—भार्याया भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।
अहं त्वां कृत्वा स्वपतिं जात्यन्धं ससुतं सदा ॥
नित्यकालं श्रमेणार्त्ता न भवेयं महातपः ॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिः कोपसमन्वितः
प्रत्युवाच ततःपत्नीं प्रद्वेषीं ससुतां तदा ॥

तो इससे भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि दीर्घतमाने अवसर विशेषका निर्देश न करके कलियुगमें विवाहिता स्त्रीके विवाहका निषेध कर दिया है। किन्तु पराशरने विशेष २ पांच अवसरों-पर विधान किया है। सुतरां दीर्घतमाका नियम स्थापन सामान्य विधान और पराशरका विधान विशेष हैं। सामान्य विधि और विशेष विधि इन दोनोंमें से विशेष विधि बलवान् होती है। यह बात पहले साफ तौरपर दिखला दी गयी है। इसलिये विशेष रूपसे अनुशीलन करके देखें तो दीर्घमताका नियम स्थापन कभी भी कलियुगमें विधवा-विवाहका निषेध करनेवाला नहीं हो सकता।

नवाँ परिच्छेद

बृहत्पराशरसंहिता
विधवा विवाहका निषेध नहीं करती।

कोई कोई महाशय कहते हैं कि*—

पराशरने स्वयं बृहत्पराशर संहिताके पंचमाध्यायमें आनेवाले श्लोकमें पुनर्विवाहिता विधवा आदिको दोषी कहा है इससे पराशरके मतसे विधवा-विवाहके विधानकी कल्पना करना लोगोंको बहकाना मात्र है।

> अन्यदत्ता तु या नारी पुनरन्याय दीयते।
>
> तस्या अपि न भोक्तव्यं पुनर्भूः कीर्त्तिता हि सा॥
>
> उपपतेः सुतो यश्च यश्चैव दिधिषूपतिः।
>
> परपूर्वापतिर्जाता वर्ज्याः सर्वे प्रयत्नतः॥

जो स्त्री एक पुरुषको दी जा चुकी है उसको पुनः किसी और को दान किया जाय तो उसका अन्न नहीं खाना चाहिये। क्योंकि वह पुनर्भू अर्थात् पुनर्विवाहिता कहाती है। जो उपपतिका पुत्र और पुनर्विवाहिता स्त्रीके पतिका औरस पुत्र है ये सब देव पित्र्य कर्ममें यत्न पूर्वक वर्जन करने चाहिये।

बृहत्पराशर संहितामें पुनर्विवाहिता विधवाका दोष

---

*ब्रह्मोक्त

कहा है। अतएव पराशरके मतसे विधवाके विवाहकी कल्पना करना दूसरेको बहकाना मात्र है, यह ऐसा विना विशेष पर्यालोचन किये ही कहा गया है। क्योंकि यदि कलियुगमें विधवा-विवाहका विधान न रहे तो कलियुगमें विधवा-विवाहकी सम्भावना भी न रहेगी। जब बृहत्पराशर संहितामें पुनः बार विवाहिता विधवाके अन्न ग्रहण करनेका निषेध देखा गया है तब विधवा-विवाहको कलियुगका धर्म मानना साफ़ तौर पर प्रतीत होता है। यदि कलियुगमें विधवा-विवाह न होता तो पुनर्वार विवाहिता विधवाके अन्न भक्षणका निषेध भी न रहता। यदि सम्भावना ही नहीं थी तो उसके अन्न भक्षणके निषेधकी भी आवश्यकता नहीं रहती। अतएव बृहत्पराशर संहितामें विवाहिता विधवाके अन्न भक्षणका निषेध करनेसे विधवा-विवाहका निषेध प्रतीत नहीं होता परन्तु उसका विधान विशेष रूपसे प्रतीत होता है। पराशर संहिताका 'नष्टे मृते प्रव्रजिते, इस वचनमे पांच स्थलोंपर जो विधवा-विवाहका विधान दिखाई देता है वह यथार्थ विवाह विधि है या नहीं इस विषयमें जिनको संशय है (चौथा अध्याय) बृहत्पराशर संहिताके 'अन्यदत्ता तु या नारी' इस वचनसे विवाहिता विधवाके अन्न भक्षणका निषेध देखकर उनका वह संशय दूर हो सकता है। फलतः प्रतिवादी महाशयने बृहत्पराशरसंहिताके वचनसे विधवा विवाहका खण्डन करनेका यत्न करके उसका पोषण ही विशेष रूपसे किया है।

यदि कहें कि जब विधवा स्त्रीने विवाह किया तो उसके अन्न भक्षणका निषेध देखा गया है, तब विधवा-विवाह किसी प्रकार विधान करने योग्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह आपत्ति करना युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता। यदि आठ

वर्षकी कन्या विधवा हो जाय और वह पुनः विवाह न करके आजीवन ब्रह्मचर्यका अवलम्बन करके जीवन बिता दे उसका अन्न खानेका भी तो निषेध दीखता है—जैसे—

अवीरायां तु यो भुंक्ते स भुंक्ते पृथिवीमलम्।

(प्रायश्चित्तविवेक धृत अंगिराका वचन)

जो पुत्र रहित स्त्रीका अन्न खाता है वह पृथ्वीका मल खाता हैं।

देखिये, अन्न भक्षणके निषेधके लिये विवाहिता और ब्रह्मचारिणी की दोनों प्रकार विधवाओंकी समानता दिखाई दे रही है। इसलिये पुनर्वार विवाहिता विधवा को बाल ब्रह्मचारिणीकी अपेक्षा अधिक हीन बतलानेके लिये और विवाहिता विधवाके अन्न खानेके निषेधको विधवा-विवाहका निषेध सूचक कहनेके लिये कोई खास युक्ति दिखाई नहीं पड़ती। और—

उपपतेः सुतो यश्च यश्चैव दिधिषूपतिः।

परपूर्वापतिर्जाता वर्ज्याः सर्वे प्रयत्नतः।

जो उपपतिका पुत्र, और जो पुनर्वार विवाहित स्त्रीका पति और उसकी औरस सन्तान, ये सब दैव और पित्र्य कर्ममें यत्न पूर्वक वर्जन करने योग्य हैं।

प्रतिवादी महोदयने इस श्लोकका पाठ जिस प्रकार लिखा है और जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है दोनोंमें ही कुछ विशेषता है। उन्होंने "परपूर्वापतिर्जाताः" यह पाठ उद्धृत किया है। यह पाठ किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता। क्योंकि 'परपूर्वापति' और 'जाताः' दोनों प्रथमा विभक्तिके पद हैं। विशेष्य और विशेषणके अतिरिक्त दो प्रथमान्त पदोंका अन्वय नहीं होता। किन्तु इस स्थानपर विशेष्यविशेषणभाव भी दोनों पदोंका नहीं कहा जासक-

ता। क्योंकि 'परपूर्वापति' यह पद एक वचनान्त है और 'जाताः' यह पद बहुवचनान्त है। संख्यावाचक पदको छोड़कर एकवचनान्त और बहुवचनान्त पदोंका परस्पर अन्वय नहीं होता। उद्देश्य विधेय भाव अथवा प्रकृति विकृति भाव भी यहां कहना सम्भव नहीं है। वस्तुतः "पर पूर्वापति यश्च" यही पाठ यहां संगत और प्रकरणानुसारी भी प्रतीत होता है। मनु संहितामें देव और पित्रय कर्ममें वर्जन करने योग्य पुरुषोंके वर्णन प्रकरणमें दिधिषूपति और परपूर्वापति इन दोनोंका उल्लेख है। जैसे—

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा।

प्रेतनिर्हारकश्चैव वर्ज्याः सर्वे प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

मेषका व्यवसाय करने वाले, महिष (भैसों) का व्यवसाय करने वाला, और परपूर्वापति और प्रेतनिर्हार अर्थात् धन लेकर जो दूसरेके शवको जलावे इनको देव और पित्र्य कर्ममें यत्नसे वर्जन कर देना चाहिये।

इस स्थानपर मनुने परपूर्वापतिको भी देव और पैत्र्य कर्म में यत्नपूर्वक वर्जन करने योग्य कहा है। परपूर्वापतिके औरस जात पुत्रकी बात भी नहीं कही। और

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।

धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः। मनु। ३।१७३॥

जो पुरुष मृत भ्राताकी नियोग धर्मके अनुसार नियुक्ता भार्या में विधिका उल्लंघन करके इच्छानुसार उसके प्रेममें फंस जाय उसको दिधिषूपति कहते है।

मनुने देव पित्र्य कार्यमें वर्जन करने योग्य दिधिषूपतिकी जिस प्रकारकी परिभाषा की है उसके अनुसार दिधिषूपति शब्दसे

दूसरी बार विवाहिता पतिका अर्थ प्रतीत ही नहीं होता। जो पुरुष नियोग धर्मके अनुसार मृत भ्राताके पुत्रोत्पादनके लिये नियुक्त होकर शास्त्र विधानका लंघन करके सम्भोग काम सुखमें ही लग जाय वह दिधिषूपति कहा जाता है, वही दिधिषूपति ही देव और पित्र्य कर्ममें यत्न पूर्वक वर्जन करने योग्य है। और "पर-पूर्वापति" शब्दसे भी इस स्थानपर द्वितीयवार विवाहिता स्त्रीका पति यह नहीं कहा जा सकता। जो स्त्री अपने निम्न श्रेणीके पति को त्याग कर उच्च श्रेणीके पतिका आश्रय लेती है उसको पर-पूर्वा कहा जाता है। उसी परपूर्वा स्त्रीका जो पति है उसको ही परपूर्वापति कहा जाता है। जैसे—

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।

निन्द्यैव साभवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥

जो नारी अपने निम्न श्रेणीके पतिका त्याग करके उच्च श्रेणिके पुरुषका आश्रय करती है वह स्त्री लोकमें निन्दाको प्राप्त होती है, वही 'परपूर्वा' कहाती है।

अतएव प्रतिवादी महाशयने वृहत्पराशर संहितासे जो श्लोक उठाकर रखा था उसका ठीक पाठ यही है कि

उपपते:सुतो यश्च यश्चैव दिधिषूपति:

परपूर्वापतिर्यश्च वर्ज्या: सर्वे प्रयत्नत: ॥

जो उपपतिकी सन्तान हो अर्थात् उपपति द्वारा उत्पन्न हुआ हो, जो व्यक्ति दिधिषूपति अर्थात् नियोग धर्मके अनुसार भाईकी स्त्रीके पुत्रोत्पादन करनेमें नियुक्त होकर काम सुखमें लग जाय और जो परपूर्वापति अर्थात् निम्न श्रेणीके पतिको त्याग करके उच्च श्रेणीके पुरुषका आश्रय कर ले इन सबको देव और पित्र्य कर्ममें यत्न पूर्वक वर्जन करना चाहिये।

इस प्रकारका पाठ और इस प्रकारका अर्थ सब प्रकार से संगत है। क्योंकि उपपतिकी सन्तान, दिधिषूपति और परपूर्वापति ये सब अत्यन्त निन्दाके योग्य हैं। इसलिये इनका यत्नपूर्वक वर्जन कर देना लिखा है। और यदि दैव पित्र्य कर्ममें वर्जन करने योग्य पुरुषोंके उल्लेख प्रकरणमें दिधिषूपति और परपूर्वापति इन दोनों शब्दोंसे मनुकी कही परिभाषाओंके अनुसार अर्थ न लेकर दोनों शब्दोंसे द्वितीय बार विवाहिता स्त्रीका पति ही अर्थ लें तो दिधिषूपति और परपूर्वापति ये दोनों शब्द रखकर वर्जन करनेका प्रयोजन ही क्या है। दिधिषूपति अथवा परपूर्वापति इन दोनोंमेंसे कोई एक शब्द रखकर ही वर्जन कर देनेसे द्वितीय बार विवाहिता स्त्रीके पतिका वर्जन हो सकता था। जब दोनों शब्दोंको पृथक् पृथक् रखकर वर्जन किया है तब इस स्थानपर दोनों शब्दोंका अर्थ मनुकी कही परिभाषाओं के अनुसार ही लेना होगा। बृहत्पराशर संहिता के दैव पित्र्य कर्ममें वर्जन करने योग्य प्रकरणके आरम्भमें लिखा है कि यदि संशय हो तो मनुके वाक्यका आश्रय लेकर अर्थ निर्णय किया जाता है। जैसे—

दार्ढ्यार्थं दृश्यते रूढे मानवं लिंगमेव च।

रूढि शब्दके अर्थको पक्का करनेके लिये मनुवाक्य ही अवलम्बन करने योग्य देखे जाते हैं।

इसलिये इस स्थानपर दिधिषूपति और परपूर्वापति इन शब्दोंके मनुप्रोक्त पारिभाषिक अर्थ ही ग्रहण करने होंगे इसमें कुछभी संशय नहीं किया जा सकता।

इसलिये प्रतिवादी महाशयने "परपूर्वापतिर्जाताः" यह जो पाठ उठाकर रखा था और द्वितीयबार विवाहिता स्त्रीका पति

और उसकी औरस सन्तान यह अर्थ लिखे थे वे किसी प्रकार भी संगत और प्रमाण सिद्ध नहीं होते।

प्रतिवादी महाशय कहते हैं कि पराशरने स्वयं बृहत्पराशर संहितामें पुनर्विवाहिता विधवा आदि को दोषयुक्त निर्णय किया है, इसलिये इस स्थानपर यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बृहत्पराशर संहिता पराशरकी बनाई हुई है कि नहीं। इस विषयमें भी बहुत संशय ही संशय हैं। पराशर संहिता और बृहत्पराशर संहिता इन दोनों ग्रन्थोंके विषयों को एकाग्र चित्तसे आलोचन करें तो बृहत्पराशर संहिता पराशरकी बनायी हुई है यह बात किसी रीतिसे भी सिद्ध नहीं हो पाती। पराशर संहितामें लिखा है—

व्यासवाक्यावसाने तु मुनिमुख्यः पराशरः

धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात्॥

व्यासवाक्यके समाप्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ पराशरने विस्तृतरूपसे धर्मका स्थूल और सूक्ष्म निर्णय करना आरम्भ किया।

इस प्रकार पराशरने धर्मके उपदेश करनेमें प्रवृत्त होकर व्यासदेवको सम्बोधन करके कहा।

शृणुपुत्र प्रवक्ष्यामि शृण्वन्तु मुनयस्तथा।

हे पुत्र! मैं धर्म कहूंगा सुनो! और मुनि लोग भी सुनें।

इससे पराशर संहिता पराशरकी स्वयं प्रणीत है यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। किन्तु बृहत्पराशर संहितामें लिखा है कि

पराशरो व्यासवचोऽवगम्य यदाह शास्त्रचतुराश्रमार्थम्।

युगानुरूपं च समस्तवर्णाँ हिताय वक्ष्यत्यथ सुव्रतस्तत्॥

पराशरने व्यासका वाक्य सुन कर चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके हितके लिये वर्त्तमान कलियुगके उपयोगी जो शास्त्र कहा है अब सुव्रत उसको कहेगा।

शक्तिसूनो रनुज्ञातः सुतपाः सुव्रतस्त्विदम्।

चतुर्णामाश्रमाणांच हितं शास्त्रमथा ब्रवीत्॥

पराशरकी अनुज्ञा पाकर तपस्वी सुव्रतने चार आश्रमोंका हितकारी यह शास्त्र कहा।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बृहत्पराशर संहिता पराशरकी अपनी बनायी हुई नहीं है। पराशरने व्यासदेवके प्रति जिनने धर्मोंका उपदेश किया है सुव्रत नामक किसी आदमीने पराशरकी अनुज्ञा पाकर उन धर्मोंको कहा है।

अब हमें दो संहिता प्राप्त होती हैं एक संहिता जो पराशरकी स्वयं बनायी मानी जाती है, दूसरी संहिता पराशरकी अनुमतिके अनुसार सुव्रत नाम किसी पुरुषकी संकलित की हुई, जिसका उल्लेख किया है, पराशर संहिता जो पराशरकी स्वयं बनाई है उसका प्रमाण पराशर संहिताके आरम्भमें पाया जाता है। विज्ञानेश्वर, वाचस्पति मिश्र, कुबेर, शूलपाणि, रघुनन्दन आदि प्रामाणिक ग्रन्थकारोंने भी उसकी साक्षी दी है। उन सबने पराशरका नाम देकर जो प्रमाण उद्धृत किये हैं वे सब पराशर प्रणीत पराशर संहितामें प्राप्त होते हैं। और माधवाचार्य पराशर संहिताका भाष्य लिख गये हैं। इसलिये इन सब कारणोंके रहते हुए ग्रन्थकी प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ती हैं। किन्तु बृहत्पराशर संहिताके विषयमें इस प्रकारका कोई भी कारण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानेश्वर आदि ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंके किसी स्थानमें भी बृहत्पराशर संहिताका उल्लेख प्राप्त नहीं होता

और उसका एक भी भाष्य लिखा नहीं गया और बृहत्पराशर संहिताके विषयमें न केवल प्रामाण्य व्यवस्थापक कोई कारण ही उपलब्ध नहीं होता बल्कि जिनसे प्रामाणिक होनेमें संशय उत्पन्न हो सकते है ऐसे कारण भी उपलब्ध होते हैं ।

प्रथम तो सुब्रत कहते हैं कि पराशरने व्यासदेवके प्रति जो धर्म कहें मैं लोक हितके लिये उन सब धर्मोंको कहूंगा । इससे तो यही प्रतीत होता है कि सुव्रतने बृहत्पराशर संहितामे सब पराशरोक्त धर्मोंका संकलन किया है । किन्तु दोनों संहिताओंका आदिसे अन्त तक आलोचन करके देखें तो पराशरमें भारी भेद दिखाई पड़ता है । पराशरने स्वयं जो कहा वह पराशर संहितामें संकलित है, किन्तु बृहत्पराशर संहितामें उसके अतिरिक्त भी बहुतसी बातें देख पड़ती हैं, बृहत्पराशर संहितामें श्राद्धशान्ति, ध्यानयोग, दानधर्म, राजधर्म, आश्रमधर्म, आदि विषयोंका विशेष रूपसे निरूपण है । पराशर संहितामें इन सब विषयोंका निरूपण नहीं है । यदि सुब्रत बृहत्पराशर संहितामे केवल पराशरोक्त धर्मोंका ही संकलन करते तो बृहत्पराशर संहितामें पराशर संहितासे अधिक बातें होना कैसे सम्भव हो सकता । और यदि अधिक बातोंका होना किसी प्रकार सम्भव भी कहा जाय तो भी बृहत्पराशर संहितामें पराशरसंहिताके विरुद्ध बातें रहना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं । अनुसंधान करके देखें तो बृहत्पराशर संहितामें पराशरसंहिताके विपरीत भी अनेक व्यवस्था हैं जैसे—

पराशरसंहितामें—

जन्मकर्मपरिभ्रष्टः सन्ध्योपासनवर्जितः ॥

नामधारकविप्रस्तु दशाहं सूतकी भवेत् ॥ अ० ३ ॥

जातकर्म आदि संस्कारोंसे रहित होकर सन्ध्योपासना शून्य नाममात्र ब्राह्मणको दशाह-अशौच लगता है।

बृहत्पराशरसंहितामें—

सन्ध्याचारविहीने तु सूतके ब्राह्मणे ध्रुवम्।

अशौचं द्वादशाहं स्यादिति पराशरो ब्रवीत्॥ अ० ६॥

पराशरने कहा है कि सन्ध्योपासनसे रहित सदाचार हीन ब्राह्मण को १२ दिनका अशौच होवे।

पराशरसंहिता—

दशरात्रेष्वतीतेषु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते।

ततः संवत्सरादूर्ध्वं सचेलः स्नानमाचरेत्॥ अ० ३॥

दश रात बीतनेपर यदि सुने तो विदेशमें बैठा व्यक्ति तीन रातमें शुद्ध होता है। और यदि एक वर्ष बाद सुने तो उसी समय सचैल स्नान करे।

बृहत्पराशर संहिता—

देशान्तरगते जाते मृते वापि सगोत्रिणी।

शेषाहानि दशाहार्वाक् सद्यः शौचमतः परम्॥ अ० ६॥

विदेशमें बैठा व्यक्ति दश दिनमें जन्माशौच और मरणाशौच की बात सुन ले तो अवशिष्ट दिन अशौच रखे और दश दिनोंके बाद सद्यः शौच हो जाता है।

पराशरसंहिता—

ब्राह्मणार्थे विपन्नानां गोवन्दि ग्रहणे तथा।

आहवेषु विपन्नानां एकरात्रन्तु सूतकम्॥ अ० ३॥

ब्राह्मणके लिये अथवा और वन्दीके पकड़नेके लिये, अथवा युद्ध क्षेत्रमें मारा जाय तो एक रात्रिका अशौच होता है ।

बृहत्पाराशर संहितामें:—

गोद्विजार्थे विपन्नये आहवेषु तथैव च ।

ते योगिभिः समा ज्ञेयाः सद्याः शौचं विधीयते ॥ अ० ६ ॥

गौ ब्राह्मणके लिये अथवा युद्ध क्षेत्रमें मारा जाय उसके मरनेपर योगीके समान सद्यः शौच होता है ।

पराशर संहितामें नाम मात्र ब्राह्मणका द्वादशाह अशौच लिखा है और वृहत्पराशर संहितामें द्वादशाह अशौच विधान किया गया है। पराशर संहितामें दस दिन बीत जानेपर मरणादि सुन लेने पर विदेशस्थ व्यक्तिके लिये तीन दिनका अशौच बतलाया है और बृहत्पराशर संहितामें सद्यः शौचका विधान है। ये सब व्यवस्थाएं जो पराशर संहिताके विपरीत हैं सो समझकर प्रतिवादी महाशय स्वीकार करेंगे। दोनों संहिताओंमें इस प्रकारकी परस्पर विपरीत व्यवस्थाएं बहुत सी हैं। अनावश्यक समझकर इन सबका उल्लेख यहां नहीं किया गया है। यदि सुव्रतने पराशर संहितामें पराशरोक्त धर्म संकलन किया है तो दोनों संहिताओंकी व्यवस्थाएं इतनी विपरीत क्यों हो गयीं। फलतः दोनों संहिताएं एक आदमीकी बनायी हुई हैं या एक आदमीके धर्मोंका संग्रह है यह कभी नहीं हो सकता।

दूसरे पराशर भाष्यके लेखसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि— माधवाचार्यके समय बृहत्पराशर संहिता प्रचलित होती तो द्वितीय अध्यायको समाप्त करके माधवाचार्यने कहा है ।

यद्यपि स्मृत्यन्तरेष्विव अत्रापि वर्णधर्मानन्तरमाश्रमधर्मा

वक्तुमुचितास्तथापि व्यासेनापृष्टत्वादाचार्येणोपेक्षिताः

अस्माभिस्तु श्रोतृहितार्थाय तेऽपि वर्ण्यन्ते ॥

यद्यपि और संहिताओंके समान पराशर संहितामें भी वर्ण धर्म निरूपणके बाद आश्रम धर्मोंका निरूपण करना चाहिये था किन्तु व्यासदेवने आश्रम धर्मोंके विषयमें कुछ नहीं पूछा था, इस लिये आचार्य पराशरने उनको उपेक्षा कर दी है किन्तु हम श्रोता ओंके हितके लिये उनका भो वर्णन करते हैं ।

पराशरने आश्रम धर्मोंका उपदेश ही नहीं किया यह समझ-कर भाष्यकारने अन्यान्य ऋषियोंकी संहिताओंसे संकलन करके आश्रम धर्मोंका वर्णन किया है । किन्तु बृहत्पराशर संहितामें विस्तृत रूपसे आश्रम धर्मोंका वर्णन किया है यदि माधवाचार्यके समय बृहत्पराशर संहिता प्रचलित होती तो वे, व्यासदेवने नहीं पूछा इसलिये पराशरने आश्रम धर्मोंका वर्णन नहीं किया इस प्रकारका बात नहीं कहते । और अन्यान्य ऋषियोंकी संहिताओंसे संकलन करके पराशर संहिताकी न्यूनताको दूर न करते । पराशरोक्त आश्रम धर्मोंके उसकी अपनी संहितामें संकलित रहने हुए भाष्यकारका इस प्रकार लिखना, और अन्यान्य मुनि-योंकी संहिताओंसे संकलन कर पराशरकी न्यूनताको दूर करने का यत्न करना किसी प्रकार भो संगत नहीं हो सकना । इसलिये यह निःसन्देह सिद्ध है कि माधवाचार्यके समयमें बृहत्पराशर संहिता नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्रचलित नहीं था ।

अतएव देखिये जब वाचस्पति मिश्र, चण्डेश्वर, शूलपाणि, कुबेर, हेमाद्रि रघुनन्दन आदि प्रामाणिक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोमें बृहत्पराशर संहिताका नाम गन्ध भी पाया नहीं जाता जब माधवा-चार्यके समयमें बृहत्पराशर संहिताकी सत्ता भी प्रमाणित नहीं

होती और जब बृहत्पराशर संहितामें सर्व सम्मत पराशर संहिता के अतिरिक्त और विपरीत बात भी अनेक देखी जाती हैं तब बृहत्पराशर संहिताको पराशरका बनाया हुआ अथवा पराशरके कहे हुए धर्मोका संग्रह किसी प्रकार भी स्वीकार किया नहीं जा सकता। इस कारण ही बृहत्पराशर संहिता निर्मूल और अप्रामणिक ग्रन्थ है यह प्रवाद चिरकालसे चला आ रहा है। इसलिये प्रतिवादी महाशयने जो लिखा है कि पराशरने बृहत्पराशर संहिता में पुनर्विवाहिता विधवा आदिको दोष युक्त बतलाया है यह कुछ भी शास्त्रका अनुशीलन न करके ही लिख दिया है इसमें संदेह नहीं। प्रतिवादी महाशय बृहत्पराशर संहिताके जो दो श्लोक उद्धृत करके कलियुगमें विधवा विवाहका निषेध सिद्ध करनेके लिये तैयार हुए थे यदि उन दोनों श्लोकोंका ठीक २ अर्थ और ठीक ठीक तात्पर्य देख भाल कर देखें तो उससे कलियुगमें विधवा विवाह प्रतिषिद्ध है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। यदि हो भी, तोभी कोई हानि नहीं, क्योंकि निर्मूल अप्रामाणिक संहिताका आश्रय लेकर सर्व सम्मत प्रामाणिक संहिताकी व्यवस्थाको अमाननीय ठहराना किसी प्रकार भी युक्ति संगत और प्रमाणानुकूल माननीय नहीं हो सकता।

दसवाँ परिच्छेद

पराशर संहिता

केवल कलिके धर्मों का निर्णय करती है अन्ययुगोंके धर्मोंका नहीं करती।

कोई कोई महाशय यह आपत्ति उठाते हैं कि पराशर संहितामें कलियुगके हो धर्मों का निर्णय नहीं किया गया, अन्यान्य युगोंके धर्म भी निरूपण किये गये हैं इस आपत्तिका तात्पर्य यह है कि यदि इस बातका निर्णय हो जाय कि पराशर संहितामें अन्यान्य युगोंका धर्म भी निरूपण किया गया है तब पराशरने विधवा आदि स्त्रियोंके पुनर्वार विवाहका जो विधान किया है वह कलियुग धर्म न रहकर और युगोंका धर्म हो जायगा। इससे विधवा-विवाह कलियुगके शास्त्रमें विहित कर्म भी न रहेगा। पराशर संहितामें अश्वमेध, शूद्र जातिमें दास, नापित गोपाल आदिका अन्न खाना, चरित्र और वेदाध्ययन आदि कार्योंके लिये ब्राह्मणादिका अशौच निषेध आदि कुछ विषयोंका विधान है। प्रतिवादी महाशयोंने यह मान कर कि यह सत्य आदि तीन युगोंका

---

* श्रीयुक्त नन्द कुमार कविरत्न और उनके सहकारीगण, श्रीयुत राजा कमल कृष्ण देव बाहादुरके सभासद गण, मुरशिदा बाद निवासी श्रीयुत रामनिधि विद्यावागीश बारासतनिवासी श्रीयुतठाकुरदास शर्मा श्रीयुत मणि जीवन तर्करत्न। श्रीयुत जानकी जीवन न्यायरत्न।

धर्म है कलियुगका धर्म नहीं, यह आपत्ति उठाई है। किन्तु पहले जिस प्रकार दिखलाया गया है तदनुसार केवल कलियुगका धर्म निरूपण करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है इसलिये पराशर संहितामें कलिके कलिके अतिरिक्त और युगोंके धर्मोंका निरूपण होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसलिये संहिताके अभिप्रायसे अश्वमेध आदिधर्म अन्य युगोंके धर्म नहीं माने जा सकते। तभी आदि पुराण, बृहन्नारदीय पुराण और आदित्य पुराणमें अश्वमेध आदिको कलियुगमें निषिद्ध लिखा गया है। यह बात देखकर ही प्रतिवादी महाशयोंने अश्वमेध आदि कर्मोंको अन्य युगका धर्म मान लिया है। अर्थात् पूर्व युगमें अश्व मेध आदि धर्म प्रचलित था। किन्तु किसी किसी शास्त्रमें अश्वमेध आदि कर्म कलियुगमें निषिद्ध देखे जाते हैं। इसलिये ये सब कलियुगके धर्म नहीं हो सकते। जब पराशर संहितामें उन्हीं अश्वमेध आदि धर्मोंका विधान है तब पराशर संहितामें कलिको छोड़ और युगोंके धर्म भी कहे गये हैं यह बात खूब अच्छी प्रकार पता लगती है।

इस आपत्तिका समाधान करनेके पूर्व यही बतलाना आवश्यक है कि आदि पुराण, बृहन्नारदीय पुराण और आदित्य पुराणमें जो निषेध हैं उनका कलियुगमें निषेध मान कर भी बराबर इनका पालन होता आया है कि नहीं। हमारे देशमें आचार व्यवहार आदिका इतिहास ग्रन्थ नहीं है, इसलिये इस विषयमें पूर्ण रूपसे कहना असम्भव है। किन्तु विशेष रूपसे अनुसंधान करके जितनी सफलता प्राप्त की जा सकी वहां तक यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि आदि पुराण, बृहन्नारदीय पुराण और आदित्य पुराणमें इन सब निषेधोंको संगति नहीं है। इन तीन ग्रन्थोंमें जिन धर्मोंको कलियुग में निषिद्ध कहा गया है कलियुगमें ये सब कार्य किये जाते रहे हैं, इसका स्पष्ट प्रमाण पाया जाता

है। जब निषेध रहने पर भी इन सब धर्मोंका अनुष्ठान होता ही आया है तब सब निषेधोंका ठीक ठीक रूपसे पालन होता था यह किस प्रकार माना जा सकता है। विवाहिता स्त्रीका विवाह ज्येष्ठांश, समुद्र यात्रा, कमण्डलु धारण, द्विजातियोंका भिन्न भिन्न जातियोंकी स्त्रियोंसे विवाह, देवरसे पुत्रका उत्पन्न होना, मधुपर्कमें पशुका वध, श्राद्धमें मांसका भोजन, वानप्रस्थका धर्म, एकको कन्या दान करके उसी कन्याको पुनः अन्य वरके हाथ दे देना, दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य, गोमेध, नर मेध, अश्वमेध, महाप्रस्थान गमन, अग्नि प्रवेश, ब्राह्मणोंका मरणके बाद प्रायश्चित्त, दत्तक और औरससे भिन्न पुत्रोंका ग्रहण, चरित्र और वेदाध्ययनके अनुसार अशौचका अपवाद, शूद्र जातिमेंसे दास, नाई ग्वाला आदिके अन्नका भोजन इत्यादि कितने हो धर्मोंको कलियुगमें निषिद्ध कहकर आदि पुराण बृहन्नारदोय और आदित्य पुराणमें उल्लेख किया गया है। उनमेंसे भी कलियुगमें अश्वमेध अग्नि प्रवेश, कमण्डलु धारण अर्थात् यति धर्म, दीर्घकाल तकका ब्रह्मचर्य पालन, समुद्रकी यात्रा, महाप्रस्थान गमन, और विवाहिताका पुन विवाह इन कितने ही धर्मोंका अब भी पालन होता है इसका प्रमाण पाया जाता है। जैसे—

कलियुगके ६५३ वर्ष बीत जाने पर पाण्डव लोग भूमण्डल पर उत्पन्न हुए थे* किन्तु उन्होंने अश्वमेध यज्ञ और महाप्रस्थान गमन किया था, यह बात सर्वत्र ही प्रसिद्ध है इसमें प्रमाण दिखलाने की आवश्यकता नहीं। और पहले दिखाया है कि पाण्डवोंमें

* शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषुचभूतले।
कलेर्गतेषुवर्षाणा मभवन् कुरुपाण्डवाः
कलियुगके ६५३ वर्ष बीतने पर कुरु पाण्डवों का भूमण्डल पर युद्ध हुआ था। कल्हण राज तरङ्गिणी। प्रथम तरंग।

तीसरे पुत्र अर्जुनने नागराज ऐरावतकी विधवा कन्याका पाणि-ग्रहण किया था।

विक्रमादित्यके पहले शूद्रक नामक एक राजा हुआ उसने अश्वमेध यज्ञ और अग्नि प्रवेश भी किया उसका प्रमाण भी मिलता है। जैसे *मृच्छकटिक की प्रस्तावनामें।

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथकलां वैशिकीं हस्ति शिक्षाम्।
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य॥
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा।
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिन सहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥

शूद्रकने, ऋग्वेद, सामवेद, गणितशास्त्र, चौसठकलाएं, और हस्तिशिक्षाकी विद्याका अध्ययन करके, महादेवके प्रसादसे निर्मल ज्ञान चक्षु प्राप्त करके, पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त हुआ देखकर बड़े समारोहके साथ अश्वमेध यज्ञ करके और एक सौ वर्ष और दस दिनकी परम आयु भोगकर अग्निमें प्रवेश किया। *

* (१) स्कन्दपुराणमें भविष्य वृत्तान्तमें इस शूद्रकका उल्लेख स्पष्ट हुआ है। जैसे—

त्रिषवर्षसहस्रेष कलेर्यातेष पार्थिव। त्रिशतेत्व दशतेत्व दशन्यूनेह्यस्यां भुविभविष्यति॥ शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धसत्तमः। नृपान्सर्वान्पापरूपान् वर्धितान् योहनिष्यति॥ चर्वितायां समाराध्य लप्स्यते भूभरापहः। ततस्त्रिषसहस्रेष दशाधिकशतत्रये। भविष्यं नन्दराज्यं च चाणक्यो यान् हनिष्यति। शुक्लतीर्थे सर्वपाप

राजा प्रवरसेनने ४ वार अश्वमेध किया उसका विशेष प्रमाण प्राप्त होता है। उसने देवशर्मा नामक ब्राह्मणको भूमिदान किया, उसीके दानके शासन पत्रमें उसके चार वार अश्वमेध करनेका स्पष्ट उल्लेख हैं। जैसे— *

चतुरश्वमेधयाजिनो विष्णुरुद्रसगोत्रस्य, सम्राजः काटकानां

महाराजश्री प्रवर सेनस्य इत्यादि ॥

"चार अश्वमेध करने वाले विष्णुरुद्र राजाके वंशमें उत्पन्न हुए काटक देशके अधीश्वर महाराज श्रीप्रवरसेन इत्यादि।"

प्रवर सेनके पूर्व पुरुषोंने दश वार अश्वमेध किया यह बात भी उसी शासन पत्रमें लिखी हैं। जैसे

दशाश्वमेधावभृथस्नातानां

दशवार अश्वमेधोंमें अवभृथ स्नान किया है।

निर्मुक्तियोभी लप्स्यते ॥ ततास्त्रिषु सहस्रेषु सहस्राभ्यधिकेषु च भविष्यो विक्रमादित्यो राज्यंसोऽत्रप्रल प्स्यते ॥

कलियुगमें ३२९० बर्ष बीतनेपर इस पृथ्वीपर शूद्रक राजा होगा। वह महावीर और अति प्रधान सिद्ध पुरुष होगा। वह पापी, प्रबल प्रतापी सब राजाओंका बलकरे या और चर्वितामें आराधन करके सिद्ध होगा। उसके बाद २० वर्ष बीत जानेपर नन्द वंशका राजा होगा इस वंशको चाणक्य विनाश करेगा और शुक्रतीर्थ पर आराधना करके सब पापोंसे मुक्त होगा। उसके बाद ६९० वर्ष बीतनेपर विक्रमादित्य राजा होगा। (कुमारिका खण्ड युग व्यवस्थाध्याय।

* (२) एशियाटिका सोसाइटीकी १९२६ सालके नवम्बर मासकी पत्रिकाके पृष्ठ ७२९ पर देखो।

काश्मीराधिपति राना मिहिर कुलने अग्निमें प्रवेश किया उसका भी प्रमाण प्राप्त होता है। जैसे

सवर्षसप्ततिं मुक्त्वा भुवंभूलोकभैरवः ।

भूरिरोगार्दितवपुः प्राविशज्जातवेदसम् ॥

(कल्हण राज तरंगिणी प्रथम तरंग)

उग्र स्वभाव राजा मिहिर कुलने ७० वर्ष राज्य भोगकर नाना रोगों से पीड़ित होकर अग्निमें प्रवेश किया।

राजा मिहिर कुलने सेना सहित सिंहलमें जाकर सिंहलेश्वर-को राज्यसे उतार दिया। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय समुद्र यात्रा निषिद्ध नहीं मानी जाती थी। जैसे—

स जातु देवीं संवीत सिंहलांशुककञ्चुकाम् ।

हेमपादांकितकुचाम् दृष्ट्वाजज्वाल मन्युना ॥ २९६ ॥

सिंहलेषु नरेन्द्रांघ्रिमुद्रांकः क्रियते पटः ।

इतिकञ्चुकिना पृष्टेनोक्तो यात्रांव्यधात्ततः ।

तत्सेनाकुन्तिदानान्तो निम्नगाकृतसंगमः ।

यमुनालिंगन प्रीतिं प्रपेदेदक्षिणार्णवः ।

ससिंहलेन्द्रेण समं संरम्भादुदपाटयत ॥

चिरेण चरणस्पृष्ट प्रियालोकनजां रुषम् ।

(कल्हण राज तरंगिणी प्रथम तरंग)

राजमहिषीने सिंहल देशके कपड़ेकी बनी अंगिया पहनी थी उसके स्तनों पर सुनहरी चरण चिन्ह देखकर राजा मिहिर

कुल क्रोधमें जल उठा और अन्तः पुरके कञ्चुकीसे पूछा तो वह बोला महाराज! सिंहल देशके सब वस्त्रों पर उस देशके राजाके चरण चिन्हकी मोहर रहती है। यह सुनकर उसने युद्ध यात्रा की। उसके सेनाके हाथियोंके गण्डस्थलसे मद्जल नदी जलके समान निरन्तर बहता था, उसके बराबर बहनेसे दक्षिण समुद्रको भी यमुनाके आलिंगनका सुख प्राप्त हुआ। राजा मिहिर कुलने सिंहलेश्वरके साथ संग्राम करके अपनी पटरानीके स्तनपर उसके चरण चिन्हके छू जानेसे उत्पन्न हुए क्रोधको शान्त किया।

राजा जयापीड़का दूत लङ्कामें गया उसका भी स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। फलतः समुद्र यात्राके प्रचलित होनेका यह एक और भी प्रमाण हो जाता है जैसे—

सांधिविग्रहिकं सोऽथ गच्छन् पोतच्युतोऽम्बुधौ
प्राप पारं तिमिग्रासात्ति मुत्पाट्यानिर्गतः ॥ ५०३ ॥

(कल्हण राज तरंगिणी चतुर्थ तरंग)

वह राजदूत जाते हुए नावसे समुद्रमें गिर गया एक महा मत्स्य तिमि (ह्वेल मछली) ने उसको हड़प लिया बादमें वह ह्वेलका पेट फाड़कर निकल आया और समुद्र भी पार कर लिया।

काश्मीराधि पति राजा मातृगुप्तने यति धर्म अवलम्बन किया, उसका प्रमाण भी प्राप्त होता है। जैसे—

अथ वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोऽभवद् यतिः ॥ ३२२ ॥

(कल्हण राज तरंगिणी तृतीय तरंग)

बादमें पुण्यवान् मातृगुप्त समस्त सांसारिक विषयोंको त्याग कर वाराणसीमें चला गया और वहां काषाय वस्त्र पहन कर यति हो गया।

राजा सुवस्तुने १०१८ संवत् हर्ष देव नामक शिवकी एक अटारी बनवाई। इस अटारीके बनवानेके प्रशंसा पत्रमें राजाने जीवन भर ब्रह्मचर्यका पालन किया ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। जैसे-

आजन्म ब्रह्मचारी दिगमलवसुनः संयतात्मातपस्वी
श्रीहर्षाराधनैकव्यसनशुभमतिस्त्यक्त संसारमोहः ।
आसीद्यो लब्धजन्मा नवतरवपुषां सत्तमः श्रीसुवस्तु
स्तेनेदं धर्मवित्तेः सुघटितविकटं कारितं हर्षहर्म्यम् ॥

(एशियाटिका सोसायटीके १८ ३५ सालकी पत्रिकाका जुलाई मासकी संख्याका ३९८ पृष्ठ देखो)

जो सुवस्तु जीवन भर ब्रह्मचारी दिगम्बर, संयत, तपस्वी, हर्ष देवके आराधनमें एक मात्र रत, संसार मायासे शून्य अपने जन्मको सफल करने वाला उत्तम पुरुष हुआ उसने धर्मार्थ खूब उत्तम सुन्दर मजबूत हर्ष देवका भवन बनवाया है।

आसीन्नैष्ठिकरूपो यो दीप्तपाशुपतव्रतः ॥

इस प्रकार स्पष्ट देखा जाता है कि कलियुगमें अश्वमेध, महा प्रस्थान गमन, अग्नि प्रवेश, यति धर्म, समुद्र यात्रा, दीर्घ कालका ब्रह्मचर्य, विवाहिताका विवाह इन कुछ एक धर्मोंका अनुष्ठान और पालन होता आया है। कलियुगमें अब के लोगोंकी अपेक्षा पूर्वतन कालके लोग शास्त्रोंको अधिक जानते और मानते थे इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु आदि पुराण आदिका निषेध न मानकर अश्वमेध, अग्नि प्रवेश आदि कर ही गये। इसलिये स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस कालके लोग पुराणके निषेधके अनुसार स्मृतिमें विधान किये अनुष्ठानसे मुंह न फेरते थे।

आदित्य पुराणमें लिखा है—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।

निवर्त्तितानि कर्माणि व्यवस्था पूर्वकं बुधैः ॥

महात्मा पण्डितोंने लोक रक्षाके लिये कलिके आदिसे व्यवस्था करके अश्वमेध आदि धर्मोंका निषेध किया है।

महात्मा पण्डितोंकी व्यवस्थाके प्रमाण होनेके विषयमें लिखा गया है।

समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद् भवेत् ।

साधु पुरुषोंकी व्यवस्था भी वेदकी तरह प्रमाण है।

इस प्रकार शासन रहने पर भी यदि पूर्व कालके लोगोंमें पुराणोंके निषेधका अनादर करके अश्वमेध आदि धर्मोंका अनुष्ठान किया है तब यह सब निषेध निषेध रूपसे गिने और माने नहीं गये थे, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके अतिरिक्त आदित्य पुराणमें दत्तक और औरस इनके सिवाय अन्य पुत्रोंके स्वीकार करनेका निषेध है, किन्तु काशी आदि स्थानोंके निवासी अभी तक भी कृत्रिम पुत्र बनाकर रखते हैं। इसलिये ही नन्द पण्डितने दत्तक मीमांसा ग्रन्थमें यह व्यवस्था की है—

दत्त पदं कृत्रिमस्याप्युप लक्षणम् औरसः क्षेत्रजश्चैव ।

दत्तः कृत्रिमकः सुतः इति कलिधर्म प्रस्तावे पराशर स्मरणम् ॥

अर्थात् यद्यपि आदित्य पुराणके निषेधके अनुसार कलियुगमें औरस और दत्तक दो प्रकारके पुत्रोंका ही विधान है किन्तु जब पराशरने कलिधर्मके प्रकरणमें कृत्रिम पुत्रका विधान किया तब कलियुगमें कृत्रिम पुत्र भी शास्त्र विहित है।

अति दूर तक तीर्थ यात्राका निषेध लिखा गया है किन्तु यह सभी मानते हैं कि आजकल भी बहुतसे लोग बड़ी दूर २

तकको तीर्थ यात्रा करते हैं। और ब्राह्मणका मरण पर्यन्त प्रायश्चित्तका निषेध मात्र भी देखा जाता है क्योंकि सुविख्यात उदयनाचार्यने बौद्ध दलको पराजित करके वैदिक धर्मका सँस्थापन किया है। उसने तुषानलमें प्राण त्याग किया है। और अभी बहुत कम दिन हुए हैं कि बनारसमें एक प्रधान व्यक्ति (स्वर्गीय श्यामाचरण वन्द्योपाध्याय) ने पापक्षयकी कामनासे प्रायोपवेशन नामक अनाहार व्रत लेकर ही प्राण त्याग रूप मरणान्त प्रायश्चित्त किया है।

इसलिये जब पराशरने कलियुगके लिये अश्वमेधका विधान किया है और कलियुगमें समय समय पर राजा लोग अश्वमेध कर गये और उनका स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है तब अश्वमेध सत्य-युग आदि तीन युगोंके समान कलियुगका भी धर्म हो जाता है। इसी प्रकार अशौचके अपवाद भी जब पराशर संहितामें कलि धर्म करके लिखे गये हैं तब वही कलियुगके धर्म हैं इसमें कोई संदेह नहीं, तब इस समय ब्राह्मणोंको अशौचके अपवादोंका पालन करते नहीं देखा जाता। उसका कारण यही है कि जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र और नित्य वेदाध्ययन करते हैं पराशरने उनके लिये ही अशौचके शब्दोंका विधान किया है जैसे—

एकाहात् शुद्धयते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।

त्र्यहात् केवलवेद स्तु द्विहीनो दशभिर्दिनैः॥

जो ब्राह्मण नित्य अग्निहोत्र और वेदाध्ययन करता है वह एक दिनमें शुद्ध हो जाता है और जो केवल वेदाध्ययन करता है वह तीन दिनमें और जो दोनों नहीं करता वह दश दिनमें शुद्ध होता है।

आजकल जब अग्निहोत्र और वेदाध्ययनकी प्रथा नहीं। और

शूद्र जातिमेंसे दास नाई, ग्वाला आदिका अन्न भोजन करनेका विधान कलिधर्म करके पराशर संहितामें किया गया है तब वही कलियुगका धर्म है इसमें कोई संदेह नहीं। यदि कहें कि दास गोपाल आदि शूद्रोंका अन्न भोजन यदि पराशरके मतसे कलियुगमें शास्त्र विहित है तब तो ब्राह्मण आदि तीनों श्रेष्ठ वर्ण भी इन सब शूद्र जातियोंका अन्न खा सकते हैं। हमें प्रतीत होता है कि हां खा सकते हैं और सारे लोग करते भी हैं। और पराशरके दास ग्वाले आदिका भोजन ग्रहणका विधान करने वाला श्लोक और उसके पहलेके दो श्लोकोंका तात्पर्य देखें तो प्रतिवादी महाशय भी स्वीकार कर लेंगे इसमें कोई संदेह नहीं।

शुष्कान्नं गोरसं स्नेहं शूद्रवेश्मन आगतम्।

पक्वं पितृगृहे पूतं भोज्यं तन्मनुरब्रवीत्॥

सूखा अन्न अर्थात् विना पका हुआ चावल आदि गोरस अर्थात् दूध आदि और स्नेह अर्थात् तैल आदि शूद्रगृहसे लाकर ब्राह्मणगृहमें पकाया जाय तो पवित्र हो जाता है। मनुने यही अन्न खानेका विधान किया है। ब्राह्मण लोग शूद्रका विना पकाया हुआ चावल आदि अपने घर लाकर पकाकर खा सकते हैं यह इसी श्लोक द्वारा प्रतिपादन होता है। इसलिये शूद्रके घरमें पाक करके खानेमें दोष होता है यह बात भी अर्थापत्तिसे सिद्ध होती हैं।

आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।

मनस्तापेन शुद्धयेत द्रुपदां वा शतं जपेत्॥

आपत् कालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरमें भोजन करे तो मनस्ताप अथवा सौवार द्रुपद मन्त्रका जाप करके शुद्ध हो जाता है।

आपत् कालमें शूद्रके घरमें पाक करके भोजन करना विशेष दोष जनक नहीं है, यह इसी श्लोक द्वारा बतलाया गया है। सुतरां आपत्तिसे अतिरिक्त समयमें शूद्रके घरमें पका कर भोजन करना दोष जनक है यह भी अर्थापत्तिसे सिद्ध होता है।

दासनापित गोपाल कुलमित्रार्ध सीरिणः।

एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्।

शूद्रोंमेंसे दास, नापित, गोपाल, कुलमित्र, अर्द्ध सीरी, और शरणागत इनका अन्न खाने योग्य है। अर्थात् इनका दिया हुआ चावल आदि इनके घरमें ही पका कर भोजन किया जा सकता है।

इन तीन श्लोकोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि ब्राह्मण शूद्र-का दिया बिना पकाया भोजन चावल शूद्र गृहमें पकाकर भोजन करे तो शूद्रान्नका भोजन करना ही है। शूद्रका दिया बिना पकाया चावल आदि अपने घरमें लाकर पकाकर खाय तो वहशूद्रान्न नहीं है। आपत्कालमें, शूद्रके घरमें शूद्रके दिये चावल आदि पका-कर भी खाये जा सकते हैं। किन्तु क्या आपत्ति और क्या सम्पत्ति समयोंमें दास, नापित, गोपाल आदिके घरमें उनका दिया चावल आदि पकाकर भोजन करना दोष जनक नहीं है।

अब सब बात विवेचन करके देखिये, कलियुगमें इस प्रकार शूद्रान्न ग्रहण करनेमें क्या बाधा है। कोई भी इस प्रकार शूद्रान्न लेनेमें दोष नहीं मानेंगे। और किन्हीं २ महोदयने शूद्रान्न शब्दसे शूद्रका पकाया हुआ अन्न, यही अर्थ समझा है किन्तु इस स्थानपर 'शूद्रान्न' शब्दसे शूद्रका पकाया हुआ अन्न यह अभिप्राय नहीं है तब तो आदित्य पुराणमें पहले ही दास गोपाल आदिके भोजनका निषेध करके और आगे चलकर पुनः शूद्रोंके

लिए ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंके लिये अन्न पकानेका निषेध नहीं किया। * उसके ही ठीक बाद शूद्रके घर पका अन्न खानेका निषेध दीखता है तब पूर्व निषेधसे लाचार होकर बिना पका चावल आदि ही मानना पड़ेगा। और यही भी देखना आवश्यक है कि शास्त्रमें शूद्रका बिना पका हुआ चावल आदि अन्न ही शूद्रान्न कहा जाता है।

आमं शूद्रस्य पक्वान्नं पक्वमुच्छिष्टमुच्यते ॥

(तिथितत्व दुर्गापूजातत्व)

शूद्रका बिना पकाया हुआ अन्न पकाया हुआ अन्न है। और पकाया हुआ अन्न उच्छिष्ट कहा जाता है।

शूद्रान्न शब्दकी व्याख्या और तात्पर्य इस प्रकार का है। स्मार्त्त भट्टाचार्य रघुनन्दनने शूद्रान्न विचारसे यही बात सिद्ध की है। जैसे—

आममन्नदत्तमपि भोजनकाले तद् गृहावस्थिते शूद्रान्नम् तथा चाङ्गिराः

शूद्रवेश्यनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि ।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं शूद्रान्नं तदपि स्मृतम् ॥

निवृत्तेन शूद्रान्नान्निवृत्तेन । अपिशब्दात् घृततण्डुलादि स्वगृहागते पुनरङ्गिराः

यथायतस्ततोह्यापः शुद्धिं यान्ति नदीगंताः ।

शूद्रेषु दासगोपाल कुल मित्रार्धस रिणम् ।
भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थ सेवाविदूरतः ॥
ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पातादि क्रियापिच ।

गृहस्थ ब्राह्मण आदिका शूद्र जातिके बीच दासगोपाल, कुलमित्र, अर्ध-सीरी इनकी भोज्यान्नता, अतिदूर तीर्थ यात्रा शूद्रका तीन वर्णोंके लिये अन्न आदि पकाना आदि।

शूद्राद्विप्रगृहेष्वन्नं प्रविष्टन्तु सदा शुचि ॥

प्रविष्टे ऽपि स्वीकारापेक्षमाह पराशरः ।

तावद्भवति शूद्रान्नं यावन्नस्पृशतिद्विजः ॥

द्विजातिकरसंस्पृष्टं सर्वं तद्धविरुच्यते ।

स्पृशति गृह्णाति इति कल्पतरुः ॥

तच्चसम्प्रोक्ष्यग्राह्यमाह विष्णुपुराणम् ।

सम्प्रोक्षयित्वा गृह्णीयात् शूद्रान्नं गृहमागतम् ॥

तच्चपात्रान्तरेणग्राह्य माहाङ्गिराः ।

स्वपात्रे यद्यविन्यस्तं दुग्धं यच्छति नित्यशः ॥

पात्रान्तरगतं ग्राह्यं दुग्धं स्वगृह आगतम् ।

एतेषु स्वगृह आगतस्यैव शुद्धत्वं तद्गृहगतस्य शूद्रान्नदोषभागित्वं—प्रतीयते (अह्निकतत्व)

शूद्रके दिये बिना पके चावल आदि भी भोजनके समय शूद्रके घरमें रहते हुएही शूद्रान्न रहते हैं क्योंकि अंगिराने कहा है कि शूद्रान्नसे रहित ब्राह्मण शूद्रके घरमें दूध दहीका भी भोजन करे क्योंकि वह भी शूद्रान्न ही है। अपने घरमें आये चावल आदिके विषयमें अंगिराने कहा है कि जिसप्रकार जल जहां कहींसे आया हो वह नदीमें पड़ने ही से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार चावल आदि शूद्रके घरसे ब्राह्मणके घरमें घुसते ही शुद्ध हो जाता है। पराशरने कहा है कि शूद्रान्न ब्राह्मण गृहमें आकर स्वीकार होनेकी अपेक्षा करता है। जैसे ब्राह्मण जबतक ले न

ले तब तक वह शूद्रान्न रहता है ब्राह्मणके हाथमें आते ही वह शुद्ध हो जाता है। विष्णु पुराणमें कहा है कि शूद्रान्नका प्रोक्षण करके जलका छींटादेने पर ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार शूद्रान्न अपने घरमें आनेपर जल छींटा देकर लेना चाहिये। अंगिरा कहते हैं कि शूद्रान्न दूसरे पात्रमें डालकर ले लेना चाहिये। अर्थात् शूद्र अपने पात्रमें जो दूध दे वह दूध अपने घरमें आकर दूसरे वर्त्तनमें करके ले लेना चाहिये। यह सब वचन यहां ही ठीक बैठते हैं कि शूद्रके दिये चावल आदि अपने गृहमें आने पर शुद्ध हो जाते हैं। शूद्रके घरमें रखे हुए चावल आदि शूद्रान्न दोषजनक हैं।

इसलिये पराशर संहितामें अश्वमेध आदि विधानोंको देख कर यही निर्णय होता है कि ये सब विधान अन्ययुगके नहीं। पराशरने तो केवल कलियुगका धर्म नहीं कहा बल्कि कलिसे अतिरिक्त धर्म भी कहे हैं इसलिये पराशर संहिता केवल कलियुगका धर्म शास्त्र नहीं इस प्रकार निर्णय करना किसी प्रकार भी संगत नहीं होता है।



ग्यारहवाँ परिच्छेद

पराशर संहिता।

आदिसे अन्ततक कलिधर्मका निर्णय करती है। केवल पहले दो अध्याय ही कलि धर्मका निर्णय नहीं करते।

कोई कोई महाशय यह सिद्धान्त करते हैं कि पराशरने केवल प्रथम और द्वितीय अध्यायमें कलियुगका धर्म निरूपण करके तीसरेसे लेकर ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त दस अध्यायोंमें सब युगोंके लिये साधारण धर्मोंका वर्णन किया है और निम्न लिखित कुछ एक बातें इस निर्णयमें हेतु रूपसे कहते हैं। (१) पहले तो प्रथम और द्वितीय अध्यायमें बार २ 'कलि' शब्दका प्रयोग है। (२) तीसरेसे १२ वें अध्याय तक किसी अध्यायमें भी 'कलि' शब्द नहीं है। परन्तु अश्वमेध आदि कलियुगको छोड़ दूसरे युगोंके धर्मोंका वर्णन किया दिखाई देता है। (३) ग्रन्थ समाप्तिके समय 'मैंने कलिके धर्म कहे' इस प्रकार उपसंहार नहीं किया परन्तु द्वितीय अध्यायके अन्तमें कलिधर्मोंके वर्णनका उपसंहार किया है। (श्री युत नन्दकुमार कविरत्न और उनके सहकारि गण)

पहले जिस प्रकार दिखाया गया है। उससे यह बात विशेष रूपसे जानी जाती है कि केवल कलियुगके धर्मोंका वर्णन

करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है। प्रतिवादी महाशय भी मानते हैं कि पहले और दूसरे अध्यायमें कलियुका धर्म निरूपण किया गया है फलतः एक अंशमें कलि धर्मोंका वर्णन करना पराशर संहिताका उद्देश्य है। अब यह अनुसंधान करना आवश्यक है कि पूर्वतन ग्रन्थकार पराशरसंहिताके विषयमें किस प्रकारकी सम्मतियां प्रकाशित कर गये हैं।

माधवा चार्यने कहा हैं:—

सर्वेष्वपि कल्पेषु पराशरस्मृतेः कलियुग धर्मपक्षपातित्वात्।

सब कल्पोंमें कलियुगका धर्म निरूपण करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य है इस स्थानपर पराशर स्मृति कलियुगकी स्मृति स्पष्ट प्रतीत होता है। इससे अद्योपान्त तकका ग्रन्थ ही कलिधर्म विषयक हैं यही स्पष्ट प्रतीत होता है। न केवल प्रथम द्वितीय अध्याय ही कलियुगके लिये हैं बल्कि अवशिष्ट दश अध्याय भी इसी प्रकार हैं।

नन्द पण्डित कहते हैं कि—

दत्तपदं कृत्रिमस्याप्युपलक्षणं। औरसः क्षेत्रजश्चैव॥

दत्तः कृत्रिमकः सुतः इतिकालिधर्म प्रस्तावे पराशर स्मरणात्॥

दत्तपदसे कृत्रिम भी लेनी चाहिये। पराशरने कलिधर्मके प्रस्तावमें कृत्रिम पुत्रका विधान किया है।

पराशरका यह पुत्रों बिषयक श्लोक चतुर्थ अध्यायमें है। इसलिये नन्द पण्डितके मतसे चतुर्थ अध्याय भी कलिधर्म निरूपणके लिये हो जाता है।

न चकलि निषिद्धस्यापि युगान्तरीय धर्मस्येव नष्टेमृते इत्यादि पराशर वाक्यं प्रतिपादक मिति वाच्यं कलावनुष्ठयान् धर्मानेव वक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय तद्ग्रन्थप्रणयनात्॥

'नष्टे मृते०' इस पराशरके वचन द्वारा कलियुगको छोड़कर और दूसरे युगोंके धर्मोका विधान किया गया है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि केवल कलियुगमें पालन करने योग्य धर्मों'का ही निरूपण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके पराशर संहिताका संकलन किया गया है।

भट्टोजी दीक्षितने विवाहके विषयमें इन विधवा-विवाह विषयक श्लोकोंके विषयमें ही ऐसा लिख दिया है इससे उनके मतमें आद्योपान्त केवल कलियुगका धर्म निरूपण करना ही पराशर संहिताका उद्देश्य स्थिर होता है।

यस्तु पतितै र्ब्रह्महादिभिःसह संवत्सरं संसर्गं कृत्वा स्वयमपि पतितस्तस्य प्रायश्चित्तं मनुराह—

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् संसर्गस्य विशुद्धये। इति॥

आचार्यस्तु कलियुगसांसर्गदोषभावमभिप्रेत्य सांसर्ग प्रायश्चित्तं नाभ्यधात्॥

जो पुरुष ब्रह्मघाती आदि पतितोंके साथ एक वर्ष सांसर्ग करके स्वयं पतित हुआ मनुने उसका प्रायश्चित्त कहा है जैसे— जो आदमी इन पतितोंके बीचमेंसे जिसका सांसर्ग करता है। इस सांसर्गसे उत्पन्न दोषको दूर करनेके लिये वह भी उस पतितके समान ही प्रायश्चित्त करे।

किन्तु आचार्य पराशरने कलियुगमें सांसर्ग दोष नहीं है इस अभिप्रायसे सांसर्ग दोषका प्रायश्चित्त ही नहीं कहा है।

कलियुगमें सांसर्ग दोष नहीं है इसलिये पराशरने ससर्ग दोष नहीं कहा है, भाष्यकारोंके इस लेख द्वारा आद्योपान्त केवल कलि युगके धर्मकथन करना ही पराशर सांहिताका उद्देश्य है यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। पराशरके शेष नौ अध्यायोंमें प्राय-

श्रितोंका निरूपण किया है सुतरां केवल प्रथम दो अध्यायोंमें ही कलिधर्म विषय न होकर समस्त ग्रन्थ ही कलिधर्मका निर्णय करता है यह बात स्पष्ट रूपसे प्रमाणित होती है।

इस प्रकार कलियुगके धर्म निरूपण करना ही पराशर संहिता का उद्देश्य है यह स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिये प्रथम और द्वितीय अध्याय ही कलिधर्मका विधान करते हैं उनसे अतिरिक्त दश अध्यायोंमें सब युगोंका समान रूपसे धर्म विधान किया गया है यह केवल प्रमाण रहित और व्यर्थकी कल्पना मात्र है।

पराशर संहिताका प्रथम अध्याय तो ग्रन्थकी उपक्रमणिका मात्र है। इसलिये उसमें कलिधर्मका उपदेश करनेके विषय-में बार बार बात आती है। द्वितीयाध्यायके आरम्भमें ही इससे आगे कलियुगके धर्मोंका वर्णन करो इस प्रकार कलिका नाम एक बार ही लिया गया है। उसके आगे और कलियुग शब्दके कहनेकी आवश्यकता नहीं। इस कारण किसी स्थान पर भी कलि शब्दका प्रयोग नहीं है। इसलिये अब अध्यायोंमें कलि शब्द नहीं जानकर केवल १म २य अध्याय कलि धर्म विषयक है और उनसे अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ पूर्व युगोंके धर्मोंको भी सामान्य रूपसे कहता है ऐसा निर्णय करना किस प्रकार संगत हो सकता है। और तृतीय अध्यायमें अशौचकी अवधि घटाई गयी है और अग्नि प्रवेशकी विधि कही गयी है और ११ वें अध्यायमें दास, गोपाल आदि शूद्रोंके अन्न भोजनका और १२ वें अध्यायमें अश्वमेधका विधान है ये सब अन्ययुगके धर्म हैं कलियुगके धर्म नहीं ऐसा निश्चय करके तीसरे अध्यायसे लेकर १२ वें अध्यायतक ग्रन्थ कलिधर्मका निरूपण नहीं करता यह व्यवस्था संगत नहीं हो सकती। यह बात हम पहले कह आये हैं। और ग्रन्थकी समाप्तिके अवसरपर भी "कलिधर्म" कहे इस प्रकार उपसंहार

नहीं किया यह भी बात ठीक है। जब "कलिधर्म कहूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करके धर्मोंका विधान करना आरम्भ किया है तब ग्रन्थ-की समाप्तिपर 'कलिधर्म कह दिया' ऐसा निर्देश न रहने पर भी कोई हानि नहीं उपक्रममें जब कलिधर्मोंके कथन करनेकी प्रतिज्ञा है तब उपसंहारमें कलिधर्मकी समाप्तिका कोई उल्लेख न रहने पर भी कलिधर्मोंके कहे जानेके अतिरिक्त और समझा भी क्या जा सकता है। और जिस प्रकार ग्रन्थ समाप्तिके अवसरमें कलिधर्मके कथन का उपसंहार नहीं उसी प्रकार सब युगोंके सामान्य रूपसे धर्म कह दिये हैं इस प्रकारका भी तो उपसंहार नहीं है। कलिधर्म कथनका उपसंहार नहीं होनेसे समस्त ग्रन्थ कलिधर्म विधायक नहीं कहा जायगा तो सर्व साधारण युगोंके धर्म कथनका उप-संहार न होनेसे सब युगोंका धर्म प्रतिपादक ग्रन्थ भी किसी प्रकारसे कहा जा सकेगा। खासकर ग्रन्थके आरम्भमें जिसप्रकार कलिधर्मके प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा दिखाई देती है उसी प्रकार तृतीय अध्यायके आरम्भमें सर्व साधारण युगोंके धर्म कहनेकी भी प्रतिज्ञा दिखाई नहीं देती। इसलिये जब उपक्रममें और उपसंहारमें सर्व साधारण युगोंके धर्म कथनका कोई उल्लेख नहीं, तब शेष १० अध्यायोंको सर्वसाधारण युगोंका धर्म प्रतिपादक मानना यह बात नितान्त निर्मूल और युक्ति शून्य है।

अब यह विवेचन करना आवश्यक है कि प्रतिवादी महाशय द्वितीय अध्यायके अन्तमें जिस प्रकार कलियुगके धर्म कथनका उपसंहार सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं वह संगत भी हो सकता है या नहीं। अर्थात्—

इस उपक्रम अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भमें कलिधर्म कथन की प्रतिज्ञा करके द्वितीय अध्याय ठीक प्रकारसे कहनेके बाद अध्याय

समाप्ति के अवसर या कलिधर्मके कथनका उपसंहार किया है। अर्थात् आगे कहनेकी इच्छा को (अकांक्षा निवृति) समाप्त कर दिया है। जैसेः—

भवन्त्यल्पायुषस्तेवै पतन्ति नरकेषु च ।

चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मः सनातनः ॥

कलिधर्ममें अर्थात् कलियुगके योग्य धर्मके पालन करनेमें लोग सब अल्पायु होंगे और निरन्तर पाप करनेके लिये मरनेके बाद नरकमें गिरेंगे। इसलिये कलिकालमें चारों वर्णों के लिये यही धर्म सनातन है। अर्थात् ये लोग सदा पापकर्मको ही धर्म मानकर स्वीकार करेंगे।

पण्डित लोग यहां विचार करें कि यह श्लोक कलिधर्मके निरूपणके प्रकरणका उपसंहार है कि नहीं।

इसस्थानपर यही कहना है कि प्रतिवादी महाशयने इस श्लोक-की जिस प्रकार व्याख्या की है यदि यही व्याख्या यथार्थ व्याख्या हो तो कलिधर्मके उपसंहार माननेमें कोई भी आपत्ति नहीं। परन्तु यह व्याख्या बिलकुल उलटी है। यह ठीक व्याख्या नहीं है। यहां दो आधे आधे श्लोकोंको मिलाकर एक श्लोक बनाकर लिखा गया है। उनमें उत्तर श्लोकार्धका पूर्व श्लोकार्धसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस श्लोकका आधा लेकर दूसरे श्लोकके साथ मिलाकर उलटी व्याख्या कर प्रतिवादी महाशय इस श्लोक को उपसंहार मानते हैं वह वचन यह है।

विकर्म कुर्वते शूद्रा द्विजशुश्रूषयोज्झिताः ।

भवन्त्यल्पायुषस्तेवै पतन्ति नरकेषु च ॥

शूद्रलोग यदि द्विजोंकी सेवासे पराङ्मुख होकर कृषि, वाणिज्य आदि काम करेंगे तो वे अल्प आयुवाले होंगे और नरकमें गिरेंगे । शेषका आधा वचन हम यहां भाष्यकार की प्रस्तावना और व्याख्या सहित उठाकर रखते हैं । यथाः—

"इत्थं वर्णचतुष्टय साधारणं जीवनहेतुं धर्मं प्रतिपाद्य निगमयति । चतुर्णामपि वर्णानांमेषधर्मः सनातनः ॥

इस प्रकार चार वर्णोंके जीविका निर्वाहके उपयोगी धर्म कहकर उनका उपसंहार करते हैं कि चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म है ।

"अतीतेष्वपि कलियुगेषु विप्रादीनां कृत्यादिकमस्ति इति सूचयित्वा सनातन इत्युक्तम् ।"

जितनी बार पूर्व कलियुग बीते हैं सबमेंही ब्राह्मण आदिका काम खेतीबाड़ी है इत्यादि बतलाने के लिये 'सनातन' यह शब्द कहा गया है ।

अब साफ़ दीखता है कि द्वितीय अध्यायमें पराशरने चारों वर्णोंके जीविका-निर्वाहके उपयोगी कृषि-वाणिज्य-शिल्पकर्म आदि धर्मोंका निरूपण किया है । तदनन्तर

चतुर्णामपि वर्णानामेषधर्मः सनातनः ।

चारों वर्णोंका यही सनातन धर्म है...

यह कहकर जीविका निर्वाहोपयोगो धर्मनिरूपणका प्रकरण समाप्त किया है । कलियुग धर्मोंको समाप्त किया है, यह बात किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती ।

विकर्म कुर्वते शूद्राः द्विजशूश्रूषयोज्झिताः ।

भवन्त्यल्पायुषस्ते वै पतन्ति नरकेषु च ॥

यदि शूद्र द्विजसेवासे मुंह फेरकर कृषि, वाणिज्य आदि करें वे अल्पायु हागे और उनको नरकमें गिरना होगा।

प्रतिवादी महाशयने इस श्लोकके पिछले आधेको पूर्व लिखे गये आधे श्लोकके साथ मिलाकर धर दिया है जैसे—

भवन्त्यल्पायुषस्ते वै पतन्ति नरकेषु च ।

चतुर्णामपि वर्णानामेषधर्मः सनातनः ॥

वे अल्पायु होते हैं और नरकमें गिरते हैं चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म है।

प्रतिवादी महाशयोंने चौकड़ी लगाकर इन दोनों आधे आधे श्लोंकोको जोड़कर एक श्लोक बना लिया और अपना मनमाना अर्थ कर लिया। जैसे—

कलिधर्ममें अर्थात् कलियुगके अनुकूल धर्मके पालनमें लोग सब अल्पायु होंगे और निरन्तर पाप करनेके लिये मरनेके उपरान्त नरकमें गिरेंगे। इसलिये कलिकाल में चारों वर्णोंके यही सनातन धर्म है। अर्थात् निरन्तर पाप कर्मोंको ही धर्म मानकर ग्रहण करेंगे।

इन प्रतिवादियोंने बहुतसे स्थानोंपर इसी प्रकार गढ़ गढ़कर अर्थ लिखे हैं किन्तु धर्मशास्त्रोंपर विचार करते हुए छल कपटका आश्रय लेना बड़ा अन्याय है। बहुतसे पाठक संस्कृत नहीं जानते हैं। उनको विदित करने के लिये ही संस्कृत श्लोकोंका अर्थ भाषामें करके लिखा जाता है। वे केवल जब भाषामें लिखे अर्थों पर निर्भर करते हैं तो प्रत्येक श्लोकका सत्य सत्य अर्थ लिखना ही सब प्रकारसे ठीक है। दुनियांको धोखेमें

डालनेके लिये मन गढ़न्त व्याख्या लिख मारना भले मनुष्योंका काम नहीं है। जो हो, प्रतिवादी महाशयोंको पूर्वोक्त दो आधे २ श्लोकोंको एक श्लोक बनाकर जिस अर्थको लिखकर कलिधर्म कथनके उपसंहार सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं अन्य अन्य स्थानों पर जो मन गढ़न्त सब अर्थ लिखे हैं वे सब भी ठीक हैं और कलियुगमें विधवा-विवाहको आशास्त्रीय कर्म माननेमें एक क्षण भी विलम्ब न करेंगे।

प्रतिवादी महाशयोंने जिस प्रकारसे कलिधर्मकथनका उपसंहार अर्थात् आकांक्षा निवृत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा की है वह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता यह हमने दिखा दिया है।

अब उन्होंने "कलियुगके अनुसार धर्मोंके आचरणमें लोग अल्पायु हो जाते हैं और नरक को जाते हैं" यह जो व्याख्या की है उससे बहुतसे लोग तो यही जानेंगे कि पराशरने दूसरे अध्यायमें जितने कलिधर्म कहे हैं वे सब पाप कर्म हैं इनके अनुष्ठान करनेसे लोग अल्पायु होते और नरकमें जाते हैं। फलतः पराशरके कहे कलिधर्म आयुका नाश करनेवाले नरकके साधन हैं इसलिये उनको त्याग कर देना चाहिये। प्रतिवादी महाशयोंने द्वितीय अध्यायके अन्तमें दो श्लोकोंके आधोंके जो मन गढ़न्त अर्थ किये यदि इसपर ही निर्भर करें तो बहुतोंको यही भ्रम हो जायगा। इसलिये पराशर संहिताका द्वितीय अध्याय आद्योपान्त नीचे भाष्य कारके आभास और तात्पर्य व्याख्या सहित उठाकर रखते हैं।

भा०—पूर्वाध्याये आमुष्यिकधर्मः प्राधान्येन प्रवृत्तः। अयन्तु ऐहिक जीवन हेतुधर्मः प्राधान्येन प्रवर्त्तते। तत्रादावध्याय प्रतिपाद्य मर्थं प्रतिजानीते—

मू०—अतः परं गृहस्थस्य कर्माचारं कलौ युगे ।
धर्मं साधारणं शक्त्या चातुर्वर्ण्याश्रमागतम् ॥
सम्प्रवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशरवचो यथा ॥

भा०—अतः परम् आमुष्मिक प्रधानधर्मकथनादनन्तरं षट्कर्माभिरतः सन्ध्या स्नान मित्यादिना हि आमुष्मिक फले धर्मेऽभिहिते सति ऐहिक फलस्य कृष्यादिधर्मस्य बुद्धिस्थत्वात् तदभिधानस्य युक्तोऽवसरः वक्ष्यमाणस्य कृष्यादिधर्मस्य ब्रह्मचारि वनस्थपतिष्वसम्भवमभि प्रेत्य तदयोग्यमाश्रमिणं दर्शयति गृहस्थस्येति । कृत त्रेता द्वापरेषु वैश्यस्यैव कृष्यादावधिकारो नतु गृहस्थमात्रस्य विप्रादे रतो विशिनष्टि कलौयुग इति । कर्मशब्दो लोके व्यापारमात्रे प्रयुज्यते आचारशब्दश्च धर्मरूपे शास्त्रीय व्यापारे कृष्यादेस्तु युगान्तरेषु कर्मत्वं कलावाचारत्वमित्युभयरूपत्वमस्ति । कृष्यादेः साधारण धर्मत्वमुपपादयति चातुर्वर्ण्याश्रमागतमिति । पराशर शब्देनात्र अतीतकल्पोत्पन्नो विवक्षितः ऐतदेवाभिव्यंजयितुं पूर्वमित्युक्तं पूर्वकल्पसिद्धं पराशर वाक्यं कलिधर्मे कृष्यादौ यथावृत्तं तथैवाहं सम्प्रवक्ष्यामि । अतः सम्प्रदायागतत्वात् कृष्यादेराचारतायां न विवादः कर्त्तव्य इत्याशयः । शिष्टाचारं शिक्षयितुं शक्त्यासम्प्रवक्ष्यामी त्युक्तं नतु कस्मिंश्चिद्धर्मे स्वस्याशक्तिं द्योतयितुं कलिधर्म प्रवीणस्य पराशरस्य तत्राशक्त्यसम्भवात् ।

अर्थ—पूर्व अध्यायमें पारलौकिक धर्म प्रधान रूपसे निर्णय किया है। पूर्व अध्यायमें पारलौकिक धर्मका प्रधानतासे निर्णय

किया गया है। जीविका निर्वाहोपयोगी ऐहिक धर्मकी प्रधानतासे निर्णय किया जाता है। उसमेंसे इस अध्यायमें इस विषयका निर्णय करेंगे इसीकी प्रथम प्रतिज्ञा करते हैं।

पूर्व पराशर वाक्यके अनुसार इससे आगे गृहस्थके लिये कलियुगमें पालन करने योग्य धर्म और आचार यथाशक्ति कहेंगे। जो कुछ कहेंगे वह चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके साधारण धर्म हैं।

पूर्व पराशरके वाक्यके अनुसार अर्थात् पूर्व कल्पमें पराशरने कलिधर्मोंका उपदेश किया था तदनुसार इसके आगे अर्थात् पारलौकिक षटकर्म, सन्ध्या स्नान आदि प्रधान रूपसे वर्णन करनेके अनन्तर। आगे कहे जानेवाले कृषि, वाणिज्य आदि धर्म ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यतिमें होने सम्भव नहीं; इसी कारण 'गृहस्थोंके' ऐसा कहा है। सत्य, त्रेता, द्वापर युगमें वैश्य जातिका भी कृषि वाणिज्य आदि धर्ममें अधिकार है, ब्राह्मणादि सब गृहस्थोंका नहीं। इसलिये 'कलियुगमें' ऐसा कहा है। अर्थात् कलियुगमें चारों वर्ण कृषि आदिका काम कर सकते हैं।

भा०—प्रतिज्ञातं धर्मं दर्शयति।

मू०—षट् कर्मसहितो विप्रः कृषि कर्म च कारयेत्।

भा०—षट् कर्माणि पूर्वोक्तानि याजनादीनि सन्ध्यादीनि च तै सहितो विप्रः शुश्रूषकैः शूद्रैः कृषिंकारयेत। न च याजनादीनां जीवनहेतुत्वात् किमनया कृष्येति वाच्यं कलौ जीवन पर्याप्ततया याजनादीनां दुर्लभत्वात्।

अर्थ—प्रतिज्ञात अर्थ कहते हैं:—

ब्राह्मण यजन, याजन आदि षट् कर्म सम्पन्न होकर सेवक शूद्रों द्वारा कृषिकर्म करावे ।

यदि कहें कि ब्राह्मणकी आजीविकाके निर्वाहके लिये, याजन अध्यापन, प्रतिग्रह यही तीन उपाय हैं। कृषिकर्मका प्रयोजन ही क्या? उसका उत्तर यह है कि कलियुगमें याजनादि द्वारा जीविका निबाहना बहुत कठिन है। इस कारण पराशरने कृषिकर्म विधान किया है ।

भा०—कृषौ वर्ज्यान् बलीवर्दानाह ।

मू०—क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत् ।
हीनांगं व्याधितं क्लीवं बृषं विप्रो न योजयेत् ॥

अर्थ—कृषिकर्ममें जिस प्रकारका बैल जोड़ना उचित नहीं, यह कहते हैं। ब्राह्मण भूखे, प्यासे, थके मांदे बैलको हलमें न जोते और अंगहीन रोगी, और नपुंसक बैलको हलमें न लगावे ।

भा०—कीदृशास्तर्हि वलीवर्दाः कृषौ योज्या इत्याह ।

मू०—स्थिरांगं निरुजं तृप्तं सुनर्दं षण्ढ वर्जितम् ।
वाहयेद्दिवसस्यार्धं पश्चात् स्नानं समाचरेत् ॥

अर्थ—तब किस प्रकारका बैल कृषि कर्ममें लगाना चाहिये यह कहते हैं। स्थिराङ्ग अर्थात् जिसके पैरमें कोई जखम आदि दोष न हो, स्वस्थ भूख प्यास इत्यादि पीड़ासे रहित, श्रमहीन मजबूत बैलको पहले दो पहर भर हलमें चलावे और पीछे उसे स्नान करावे ।

भा०—कृषौ फलितस्य धान्यस्य विनियोगमाह ।

मू०—स्वयंकृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः ॥
निर्वपेत् पाकयज्ञांश्च क्रतुदीक्षाञ्च कारयेत् ।

अथ—खेती बारीसे जो धान उत्पन्न हो उसका उपयोग कहते हैं।

अपने आप हलबाहे क्षेत्रमें जो धान्य उत्पन्न होता है उस धान्य से पञ्चयज्ञ और अग्नि ष्टोमादि यज्ञ करे।

भा०—कृषीबलस्य तिलादि धान्य सम्पन्नस्य धनलोभेन प्रसक्त स्तिलादिविक्रय स्तं निवारयति ।

मू०—तिला रसा न विक्रेया विक्रेया धान्यतत्समाः ।
विप्रस्यैवं विधा वृत्तिस्तृणकाष्ठादिविक्रयः ॥

भा०—यदि धान्यान्तररहितस्य तिलविक्रयमन्तरेण जीवनं धर्मो वा न सिद्धयेत् तदा तिलाधान्यान्तरै र्विनिर्मातव्या इत्यभिप्रेत्य विक्रेया धान्यतत्समा इत्युक्तं । यावद्भिप्रस्थैस्तिला दत्तास्तावद्भिरेव धान्यान्तरमुपादेयं नाधिकामित्यर्थः ।

अर्थ—तिल आदि धान्योंसे सम्पन्न कृषि जीवी आदमी धनके लोभसे तिल आदि भी बेच सकता है। इसलिये निषेध करते हैं ब्राह्मण तिल, घृत, दही, मधु आदि रस न बेचे ; किन्तु यदि अन्य धान्य न हो और तिल बेचनेके बिना जीविकाका निर्वाह या धर्म कार्योंका अनुष्ठान भी न हो सके तो तिलोंके समान परिमाणमें दूसरे धान अदला बदला (विनिमय) के रूपमें बेच दे। इस प्रकार घास लकड़ी भी बेचले।

भा०—इदानीं कृषावानुषंगिकस्य पाप्मनः प्रतीकारं वक्तु प्रथमतस्तं पाप्मानं दर्शयति ।

मू०—ब्राह्मणश्चेत्कृषिं कुर्यात् तन्महादोषमाप्नुयात्।

भा०—कृषौ हिंसायामवर्जनीयत्वात् सावधानस्यापि कृषीवलस्य दोषोऽनुषज्यते इति।

अर्थ—अब खेतीके काममें आनुषंगिक जो पाप है उसकाप्रतिकार करनेके लिये पहले उसी पापको दिखलाते हैं। यदि ब्राह्मण कृषि कर्म करे तो बड़ा दोष है। किसान कितना ही सावधान क्यों न हो, खेतीमें जीवहिंसा होती ही है। इसलिये दोषी भी हैं ही

भा०—उक्तस्य दोषस्य महत्वं विशदयति।

मू०—संवत्सरेण यत् पापं मत्स्यघाती समाप्नुयात्।
अयोमुखेन काष्ठेन तदेकाहेन लांगली॥

अर्थ—उक्त दोषकी अधिकता बतलाते हैं।

मच्छी मारनेवाले पुरुषको जो पाप होता है किसानको लोहके फाल लगे हल चलानेसे वही पाप होता है।

भा०—उक्तरीत्या कर्षकमात्रस्य पापप्रसक्तौ वारयितुं विशिनष्टि।

मू०—पाशको मत्स्यघाती च व्याधः शाकुनिकस्तथा।
अदाता कर्षकश्चैव सर्वे ते समभागिनः॥

भा०—यथा पाशकादीनां पापं महत् एवमदातुः कर्षकस्येत्यर्थः॥

अर्थ—पूर्वोक्त नीतिसे सब कृषकोंको पाप होगा उसका निषेध करनेके लिये विशेष रूपसे कहते हैं।

पाशक, मत्स्य-घाती, व्याध, चिड़ीमार, अदाता कृषक, ये सब समान रूपसे पाप भागी होते हैं।

जिस प्रकार पाशक जालिया आदि लोगोंको बहुत पाप लगता है उसी प्रकार दान न करने वालेको भी लगता है। अर्थात् किसान अगर दानशील हो तो उस प्रकार पापभागी नहीं होता।

भा०—यदर्थं कृषीवलस्यपाप्मा दर्शितस्तामिदानीं प्रतिकारमाह।

मू०—वृक्षं छित्वा महीं भित्वा हत्वा च कृमिकीटकान्।
कर्षकः खलयज्ञेन सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

भा०—छेदन-भेदन-हननै-र्यावन्ति पापानि निष्पद्यन्ते तेषां सर्वेषां खले धान्यदानं प्रतीकारः।

अर्थ—जिस प्रतीकारको कहनेके लिये पहले किसानका पाप दिखलाया गया है अब उसी प्रतीकारकी बात कहते हैं।

किसान वृक्षोंको काटने, भूमिको तोड़ने कृमि और कीटोंको बध करनेसे जिन पापोंमें लिप्त होता है खलयज्ञ द्वारा वह उन सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। छेद, भेद, और बध द्वारा जो पाप उत्पन्न होता है खल अर्थात् खलिहानमें (धान्य) अनाज दान करनेसे उन सब पापका प्रतिकार हो जाता है। इसी अन्न दानका नाम खल यज्ञ है।

भा०—धनयज्ञाकरणे प्रत्यवायमाह।

मू०—योन दद्याद्वि जातिभ्यो राशिमूलमुपागतः।
स चौरः सच पापिष्ठः ब्रह्मघ्नं तं विनिर्दिशेत्॥

खल यज्ञके न करनेमें पाप कहते हैं, जो कृषक उपस्थित रहकर भी आये हुए ब्राह्मण आदिको खलिहानमें रखे धान्य राशि मेंसे कुछ अंश दान नहीं करता; वह चोर है, वह पापी है, उसीको ब्रह्मघाती कहते हैं।

भा०—दातव्यस्य धान्यस्य परिमाणमाह ।

मू०—राज्ञो दत्वा तु षड्भागं देवानांञ्चैक विंशकम् ।

विप्राणां त्रिंशकंभागं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थ—दान करने योग्य धान्यका परिमाण कहते हैं राजाका छठा अंश, देवताका २१ वां भाग और ब्राह्मण आदिका ३० वां भाग दान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

भा०—विप्रस्य सेतिकर्त्तव्यां कृषिमुक्त्वा वर्णान्तराणामपि तामाह ।

मू०—क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च पूजयेत् ।

वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ।

भा०—कृषिवद्वाणिज्य शिल्पयोरपि कलौ वर्ण चतुष्टय साधारण धर्मत्व दर्शयितुं वाणिज्यशिल्पकमित्युक्तम् ।

अर्थ—ब्राह्मणोंकी कृषिको इति कर्त्तव्यताके सहित कहकर अन्य वर्णोंके कृषि कर्मका भी विधान करते हैं ।

क्षत्रिय भी कृषि कर्म करके देवता और ब्राह्मणकी पूजा करे । और वैश्य और शूद्र कृषि, वाणिज्य और शिल्य कर्म करें ।

कृषिके समान वाणिज्य और शिल्प कर्म भी कलियुगमें चारों वर्णोंके साधारण धर्म हैं ; यही दर्शानेके लिये उक्त श्लोकमें वाणिज्य शिल्पकम् पाठ किया गया है ।

भा०—यदि शूद्रस्यापि कृष्यादिकमभ्युपगम्य तर्हि तेनैव जीवन-सिद्धेः कलौ द्विजशुश्रूषा परित्याज्येत्याशंक्याह

विकर्म कुर्वते शूद्रा द्विज शुश्रूषयोज्झिताः ।

भवन्त्यल्पायुषस्ते वै निरयं यान्त्यसंशयम् ॥

भा०—लाभाधिक्येन विशिष्ट जीवनहेतुत्वात् कृष्यादिकं विकर्मेत्सुच्यते। द्विजशुश्रूषया तु जीर्णवस्त्रादिकमेव लभ्यते इति न लाभाधिकम्। अतोऽधिकालिप्सया कृष्यादिकमेव कुर्वन्तो यदि द्विजशुश्रूषापरित्यजेयु स्तदा तेषामैहिकमामुष्मिकं च हीयेत।

यदि शूद्रको भी कृषि कर्मका विधान किया है तो उससे ही उसकी जीविकाका निर्वाह हो तो क्या कलियुगमें वह द्विजोंकी शुश्रूषा करना छोड़ दे। यह आशंका करके कहते हैं कि—शूद्र लोग यदि द्विजोंकी सेवाका परित्याग करके कृषिकर्म करेंगे तो वे अल्पायु हो जाते हैं और निःसन्देह नरक जाते हैं। द्विज-सेवा द्वारा केवल जूठे अन्न और पुराने वस्त्र ही प्राप्त होते हैं। अधिक लाभ पानेकी आशा नहीं होती। इस कारण शूद्र जाति यदि अधिक लाभके लोभमें कृषि आदि कर्म करनेमें लग जाय और वह एक बार ही द्विज सेवा छोड़ दे तो उसका इह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

भा०—इत्थं वर्णचतुष्टय साधारणं जीवनहेतुं धर्मं प्रतिपाद्य निगमयति।

मू०—चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मः सनातनः ॥

भा०—अतीतेष्वपि कलियुगेषु विप्रादीनां कृष्यादिकमस्तीति सूचयितुं सनातन इत्युक्तम्।

इसी प्रकार चारों वर्णोंके साधारण जीविका निर्वाहोपयोगी धर्म निरूपण करके उपसंहारमें कहते हैं।

चारों वर्णोंके यही सनातन धर्म हैं।

अतीत हुए कलियुगमें ब्राह्मण आदिके कृषि आदि धर्म थे। यह ही बतलानेके लिये धर्मका "सनातन" यह विशेषण दिया हैं। अर्थात् चारोंवर्णोंके यही सनातन धर्म हैं यह कहनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सभी कलियुगोंमें ब्राह्मण आदि सभी वर्ण जीविका निर्वाह करनेके लिये कृषि कर्म करते रहे।

अब पाठक गणसे विनय पूर्वक यही प्रार्थना हैं कि आपलोगोंने पराशर संहिताके द्वितीय अध्यायको आदिसे अन्ततक देख लिया है। अब विवेचना करके देखिये कि "कलिधर्म अर्थात् कलियुगके अनुसार धर्मके पालन करनेमें लोग अल्पायु होंगे और बराबर पाप कर्म करनेके कारण उनको मरनेपर नरक होगा इसलिये कलिकालमें चारों वर्णोंका यही सनातन धर्म है। अर्थात् ये लोग बराबर पाप कर्म ही धर्म मानेंगे" प्रतिवादी महाशयोंकी यह व्याख्या और इस प्रकार कलिधर्म कथनका उपसंहार संगत और सुसंबद्ध हो सकता है कि नहीं? और पराशरने जो द्वितीय अध्यायमें चारों वर्णोंके साधारण धर्मों का निरूपण किया है उनके अनुष्ठान करनेसे लोग अल्पायु और नरकगामी होंगे कि नहीं। और—

चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मः सनातनः ।

चारों वर्णोंका यही सनातन धर्म है।

इस आधे श्लोकका "इसलिये चारों वर्णोंका यही सनातन धर्म है। अर्थात् ये निरन्तर पाप कर्मको ही धर्म मान लेते हैं।" प्रतिवादी महाशयोंका यह भाव तथा तात्पर्य भी संगत हो सकता है कि नहीं।

बारहवाँ परिच्छेद

पराशर

केवल कलिधर्मके प्रवक्ता हैं अन्य युगोंके धर्म उन्होंने नहीं लिखे हैं।

कई महाशय कहते हैं—

क्या महाशय आपने पराशर संहिताको आदिसे अन्त तक पढ़ा है। या केवल आपत्ति जनक विषयोंमें इतना मनमाना जोर लगा रहे हैं। शिष्ट समाजमें विशेष रूपसे गिने जानेके लिये क्या अनिष्टमें प्रवेश करना ही सबसे उत्तम लक्षण है। पराशर केवल कलि धर्मके प्रवक्ता ही हैं इस प्रकारका स्थिर निर्णय न जानें, उन्होंने अन्य युगोंके धर्म भो अपनी संहितामें लिखे हैं।

तज्जानीति।

त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकन्तु कर्त्तारन्तु कलौ युगे॥
कृतेसम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनं न च।
द्वापरे अर्थमादाय कलौ पतति कर्मणा॥
ततः परं कृत युगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेव कलौ युगे॥

इत्यादि श्लोकों से यह बात पता लगती है कि पराशरने अन्य युगोंके धर्म भी लिखे हैं । *

प्रतिवादी महाशयके उठाये हुए इन तीन श्लोकोंमें चारों युगोंकी बात लिखी है। इसलिये उनसे प्रतीत होता है कि पराशरने और युगोंके धर्म भी कहे हैं। किन्तु पराशरने किस अभिप्रायसे उन तीन वचनों और अन्य भी कुछ एक वचनोंमें ही अन्य अन्य युगोंकी बात कही है इसको सावधान एकाग्र-चित्त होकर विचार करके देखो तो भी इनको कभी यह बात पता नहीं लगेगी कि पराशरने अन्य युगोंके धर्मका निरूपण किया है।

अन्ये कृतयुगे धर्मा स्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ॥

युगके स्वरूपके अनुसार मनुष्यके सत्ययुगके सब धर्म और त्रेताके सब धर्म और कलियुगके सब धर्म और हैं। पराशरने इसी प्रकारसे युगके अनुसार मनुष्यकी शक्ति कम हो जानेके कारण प्रत्येक युगके धर्म सब भिन्न भिन्न हैं, यही व्यवस्था करके युग युगमें मनुष्यकी शक्तिके कम हो जाने और भिन्न २ प्रवृत्ति हो जानेके उदाहरण दिखलानेके लिये पीछे आनेवाले कुछ श्लोकोंमें सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंकी बात लिखी है। जैसे

ततः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहु र्दानमेव कलौ युगे ॥

---

* श्रीयुत पीताम्बर सेन कविरत्न ।

सत्ययुगमें प्रधान धर्म तपस्या, त्रेतामें प्रधान धर्म ज्ञान द्वापरयुगमें प्रधान धर्म यज्ञ, और कलियुगमें प्रधान धर्म दान हैं।

सत्ययुगके लोगोंमें सबसे अधिक क्षमता थी इस कारण सबसे अधिक कष्ट साध्य तपस्या उसी युगका प्रधान धर्म था। किन्तु आगे २ के मनुष्यकी शक्ति अपेक्षया कम होती गयी इस कारण युगोंमें यथा क्रम अपेक्षया कम कष्ट साध्य ज्ञान, यज्ञ और दानको प्रधान धर्म व्यवस्थापित किया है।

कृते तु मानवा धर्मा स्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः ।

द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृता ॥

मनुके कहे हुए धर्म सब सत्ययुगके धर्म हैं। गौतम प्रोक्त धर्म सब त्रेता युगके धर्म हैं, शंख लिखति प्रोक्त धर्म सब द्वापरयुगके धर्म हैं और पराशर प्रोक्त धर्म कलियुगके धर्म हैं।

अर्थात् पीछे २ आनेवाले युगोंमें उत्तरोत्तर मनुष्यकी सामर्थ्य कमहो जानेके कारण मनु आदिके कहे हुये कष्ट साध्य धर्म सब के लिये पालन करना कठिन काम है। इस कारण अपेक्षासे कम कष्ट साध्य धर्मोंका बतलाने वाला पीछे २ आनेवाले युगोंका एक २ धर्म शास्त्र व्यवस्थापित है।

त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत् ।

द्वापरे कुलमेकन्तु कर्त्तारन्तु कलौ युगे ॥

सत्ययुगमें देश त्याग करे, त्रेता युगमें ग्राम त्याग करे, द्वापरमें कुल छोड़ दे, और कलियुगमें कर्त्ता पुरुषको छोड़ दे। अर्थात् सत्ययुगमें जिस देशमें पतित लोग रहते थे उस देशको छोड़ दिया जाता था, त्रेतायुगमें जिस ग्राममें पतित रहते

थे वह ग्राम छोड़ दिया जाता था, द्वापर युगमें जिस कुलमें पतित रहते थे वह कुल छोड़ दिया जाता था अर्थात् उस कुलमें आदान प्रदान नहीं किया जाता था, और कलियुगमें कर्त्ताको अर्थात् जो आदमी स्वयं पतित हैं उसको ही परित्याग किया जाय। सत्ययुगके लोग बिना कष्ट अनुभव किये ही पतितोंसे बसे देशको त्याग कर देते थे, किन्तु त्रेता युगमें लोगोंकी उतनी क्षमता नहीं थी वे देश छोड़कर जा नहीं सकते थे, वे केवल पतितोंसे बसे ग्रामको छोड़ दे सकते थे। द्वापर युगमें लोगोंकी उतनी क्षमता नहीं थी, वे ग्राम भी छोड़कर नहीं जा सकते थे, केवल जिस परिवारमें पतित पुरुष था उसको ही छोड़ते थे। अर्थात् उस परिवारके साथ लेन देनका व्यवहार नहीं करते थे। कलियुगके लोगोंमें उतनी भी क्षमता नहीं। इसलिये वे देश त्याग ग्राम त्याग और कुल त्याग नहीं कर सकते, केवल जो आदमी पतित है उसीको छोड़ देते हैं।

कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।

द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥

सत्य युगमें सम्भाषण मात्र करनेसे गिर जाता था, त्रेता युगमें स्पर्श करनेसे पतित हो जाता था, द्वापर युगमें अन्न ग्रहण करनेसे गिर जाता था और कलियुगमें कर्म द्वारा पतित हो जाता है।

अर्थात् सत्य युगके लोग पतितके साथ सम्भाषण करनेसे ही पतित हो जाते थे, इसलिये उस समयके लोग पतित पुरुषोंके साथ सम्भाषण भी नहीं करते थे। त्रेता युगके पतितके सा सम्भाषण करनेसे पतित नहीं होते थे, वे पतित व्यक्तिको स्पर्श करनेसे पतित होते थे। द्वापर युगके लोग पतितके साथ सम्भाषण

और स्पर्श करनेसे भी पतित नहीं होते थे किन्तु पतित आदमीका अन्न ग्रहण करके पतित होते थे, कलियुगके लोग पतितके साथ सम्भाषण, स्पर्श और अन्न ग्रहण करने पर भी पतित नहीं होते किन्तु स्वयं पतित होनेके कर्म करने पर ही वे पतित होते हैं, अर्थात् पतितके साथ सम्भाषण आदि करने पर भी व्यवहार चल सकेगा और कोई दोष नहीं समझा जायगा। परन्तु कलियुगके लोगोंका इतना सामर्थ्य नहीं इसलिये सम्भाषण आदि करने पर पतित नहीं होगा वह जब अपने आप पतित होनेका काम करेगा तभी पतित होगा।

कृते तात्कालिकः शाप स्त्रेतायां दशभिर्दिनैः।
द्वापरे चैकमासेन, कलौ संवत्सरेण तु॥

सत्य युगमें दिया हुआ शाप उसी समय फलता था। त्रेता युगमें दश दिनके बाद फलता था द्वापर युगमें एक मासके बाद और कलियुगमें एक वर्षमें शाप फलता है।

अर्थात् सत्य युगके लोगोंकी इतनी क्षमता थी कि उनका दिया हुआ शाप एक दिनमें ही फल जाता था; किन्तु बादके युगोंमें मनुष्योंकी शक्ति कम हो गयी, इस कारण, यथाक्रम त्रेता, द्वापर और कलियुगमें दसदिन, एक मास, और एक वर्षमें शाप फलने लगा।

अभिगम्य कृते दानं, त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय कलौ संवत्सरेण तु॥

सत्य युगमें पात्रके पास जाकर दान दिया जाता था, त्रेता-युगमें पात्रको अपने घरपर बुलाकर दान किया जाता था, द्वापरमें पास आकर याचना करे तो दान दिया जाता था, कलियुगमें सेवा करे तो दान दिया जाय।

अर्थात् सत्ययुगमें मनुष्योंकी धर्मप्रवृत्ति इतनी अधिक थी कि दान करनेकी इच्छा होते ही पात्रके पास जाकर दान किया जाता था । त्रेतायुगके लोगोंकी धर्मप्रवृत्ति इननी प्रबल नहीं । इसलिये दान करनेकी इच्छा होने पर पात्रके पास स्वयं न जाकर उसको अपने पास बुलाकर दान करते थे, द्वापर युगमें लोगोंकी धर्मप्रवृत्ति उससे भी कम रह गयी, इसलिये जब दान करनेकी इच्छा हुई तो वे पात्रके पास जाकर या उसको बुलाकर दान नहीं करते थे प्रत्युत पात्रके मांगने पर दान करते थे । और अब कलियुगमें लोगोंकी धर्मप्रवृत्ति इतनी कम है कि पात्र मांगे भी तो दान नहीं मिलता, यदि सेवा शुश्रूषा से प्रसन्न न करले तो केवल मांगने पर उसको दान नहीं मिलता ।

कृतेत्वस्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांसमाश्रिताः ।
द्वापरे रुधिरञ्चैव कलौत्वन्नादिषु स्थिताः ॥

सत्ययुगमें मनुष्योंके प्राण हड्डियोंमें रहते थे त्रेतायुगमें मांसमें और द्वापरयुगमें रुधिरमें और कलियुगमें अन्नमें प्राण रहते हैं ।

आर्थात् सत्य युगमें प्राण हड्डियोंमें रहते थे, तपस्या आदिसे शरीर शुष्क हो जानेपरभी हड्डीभर अवशिष्ट रह जाने पर भी प्राण नहीं छुटता । त्रेतायुगमें प्राण मांसमें रहता है अर्थात् अनाहार आदिसे शरीर काया सूख जानेपर प्राण निकलता था । द्वापर-युगमें प्राण रुधिरमें रहता है अर्थात् मांस सूखनेकी भी नौबत नहीं आती, शरीरका खून सूखते ही प्राण छूटता था और कलियुग में प्राण अन्न आदिमें रहता था, अर्थात् शरीर सूखनेकी भी नौबत नहीं आवे भोजन रुका नहीं कि प्राण छूट जाता है ।

अब सब विवेचना करके देखिये जैसा दर्शाया गया है

तदनुसार स्पष्ट प्रतीत होता है कि पराशरने जो युगानुसार शक्तिह्रासादिके कारण धर्मभेदकी व्यवस्था की है उसी शक्ति-ह्रासादिका उदाहरण दर्शानेके लिये कई एक श्लोकोमें चारोंयुगोंकी बातोंका उल्लेख किया है। न कि इन सब वचनोंमें सबयुगोंके धर्म कहे हैं

प्रतिवादी महाशयने इस प्रकरणके केवल तीन श्लोक उठाकर बतलाना चाहा कि पराशरने और युगोंके भी धर्म कहे हैं किन्तु स्थिरचित्त होकर प्रकरण देखकर और उनका तात्पर्य विचार कर देखें तो पता लगेगा कभी भी उनसे ऐसा प्रतीत नहीं होता।

तेरहवाँ परिच्छेद

पराशर संहितामें चारों वर्णोंका धर्मोपदेश होना प्रमाणित नहीं होता।

कोई कोई कहते हैं कि पराशरसंहितामें जो चारों युगोंके धर्मका उपदेश किया गया है संहिताके प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भ और अन्तमें वह प्रतीत होता है। यदि कदाचित् कुतर्कवादियोंको इससे भी पता न लगे इसकारण इस संहितासे कोई कोई वचन उठाकर चारों युगोंके धर्मोपदेश करनेको प्रमाणित करते हैं।

प्रथम अध्यायमें लिखा है—

कृते सम्भाषणात् पापं त्रेतायाञ्चैव दर्शनात्।
द्वापरे चान्नमादाय कलौ पततिकर्मणा ॥

सत्ययुगमें पापीके साथ आलाप मात्र करनेसे पाप उत्पन्न होता है। त्रेतायुगमें पापीका दर्शन करनेसे पाप होता है। द्वापरयुगमें पापीका अन्न खानेसे पाप होता है कलियुगमें पापजनक कर्म करनेसे पाप होता है। अर्थात् संसर्ग आदि दोषसे पाप नहीं होता।

बादमें १२वें अध्यायमें लिखा है।

आसनात् शयनाद्यानात् सम्भाषात् सहभोजनात्।

संक्रामन्तीह पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥

जिसप्रकार बिन्दुमात्र तैल पानीमें पड़नेसे वह सर्वत्र फैल जाता है उसी प्रकार पापीके साथ बैठने, एकस्थानपर सोने, एक साथ जाने, आलाप करने और एकसाथ भोजन करनेसे निष्पाप व्यक्तिको भी पाप लग जाता है।

पराशरसंहिताके १२वें अध्यायको यदि केवल कलियुगके धर्मोंका प्रतिपादक कहें तो उक्त श्लोकके अनुसार कलियुगमें पापीके संसर्ग से भी पाप पैदा होता है यह भी स्वीकार करना पड़ेगा किन्तु प्रथमाध्यायमें कलियुगमें पापीके संसर्गसे और उसके दर्शनसे भी पाप नहीं होता ऐसा लिखा हुआ है। इसलिये दोनों वचनोंका परस्पर विरोध होनेके कारण पराशरसंहितामें चारों युगोंका धर्म कहा गया है यह स्वीकार करना पड़ेगा। अथवा पराशरने पागलके समान बक दिया है ऐसा ही कहना पड़ेगा।

प्रतिवादी महाशय ठीक ठीक तात्पर्यार्थ बिना देखे पहले अध्यायके श्लोकके साथ १२वें अध्यायके श्लोकका विरोध दिखानेके लिये उद्यत हो गये। प्रथमाध्यायके श्लोकका तात्पर्य यह है कि सत्य आदि युगोंमें पतितके साथ सम्भाषण करने से पतित हो जाता था, कलियुगमें पतितके साथ सम्भाषण आदि करनेसे पतित नहीं होता बल्कि वह स्वयं ही पतित होनेके काम करेगा तब पतित होगा। अर्थात् कलियुगमें सत्य आदि युगके समान संसर्ग दोषसे पतित नहीं होता। १२ वें अध्यायके श्लोक-का तात्पर्य यह है कि कलियुगमें भले ही ससर्ग दोषसे पतित न हो परन्तु पतितके साथ संसर्ग करनेसे भी कुछ पाप अवश्य उत्पन्न होता है। इसलिये दोनों वचनोंका किस प्रकार परस्पर विरोध

बन सकता है यह बात तो प्रतिवादी महाशय ही बतला सकेंगे। उन्होंने प्रथम श्लोकका पाठ जिस प्रकारका स्वीकार किया है उससे स्पष्ट विदित होता है विशेष विचार विना किये ही उक्त दोनों श्लोकोंका परस्पर विरोध बतानेकी चेष्टा की है। उनके लिखे पाठ और उनकी की व्याख्याके अनुसार सत्ययुगमें पतितके साथ सम्भाषण करनेसे ही पतित हो जाता है। त्रेता युगमें पतितका दर्शन करनेसे पतित होता है, द्वापर युगमें पतितका अन्न ग्रहण करनेसे पतित होता है। कलियुगमें ब्रह्महत्या आदि करनेसे पतित होता है। इस स्थान पर प्रतिवादी महाशय से हमारा यह प्रश्न है कि त्रेता युगमें पतितका दर्शन करनेसे पतित कैसे होंगे। हम तो जानते हैं कि किसी भी युगमें पतितका दर्शन करनेसे पतित नहीं हो सकता। श्लोकके अभिप्रायसे ही स्पष्ट पता लगता है कि सत्य, त्रेता और द्वापर इन तीन युगोंमें उत्तरोत्तर अधिक और संसर्गसे ही पतित होते हैं। किन्तु प्रतिवादी महाशयके लिखे पाठके अनुसार सत्य युगमें पतितके साथ बात करनेसे ही पतित हो जाता है। त्रेता युगमें पतितके दर्शन करनेसे पतित हो जाता है। अब सावधान होकर विचार कर देखिये पतितके दर्शनको पतितके साथ वार्त्तालाप करनेकी अपेक्षा अधिक भारी संसर्ग कहा जा सकता है कि नहीं। नहीं कह सकते, प्रतिवादी महाशयका क्या कहेंगे। किन्तु हमें प्रतीत होता है कि साथ वार्त्तालाप करनेकी अपेक्षा पतितका दर्शन करनेसे भारी पाप संसर्ग नहीं। सत्य युगमें जिस प्रकारके संसर्गसे पतित होते हैं त्रेता युगमें उसकी अपेक्षा और भारी संसर्ग किये बिना पतित नहीं हो सकता। जो भी हो, आश्चर्यका विषय यही है कि प्रतिवादी महाशयको यह स्थान ठीक समझमें नहीं आया, यह उनको पता नहीं। चन्द्रिका यन्त्रमें छपे पुस्तकमें जिस प्रकार पाठ दिखाई देता

है उन्होंने उसीको ठीक पाठ समझ लिया है। इस श्लोकका पाठ इस प्रकार है।—

कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरेत्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥ *

सत्य युगमें पतितके साथ सम्भाषण करनेसे पतित होता है त्रेता युगमें पतितका स्पर्श करनेसे पतित होता है और द्वापरमें पतितका अन्न लेनेसे पतित होता है और कलियुगमें ब्रह्महत्यादि करनेसे पतित होता है।

अब पाठक गण विवेचना करके देखें उत्तरोत्तर युगोंमें गुरुतर संसर्ग पतित होनेका कारण होता है कि नहीं। पतितके साथ बोलनेकी अपेक्षा स्पर्श करना भारी संसर्ग है और स्पर्श करनेकी अपेक्षा अन्न ग्रहण करना भारी संसर्ग है। अब आप खूब विवेक करके देखिये कि प्रतिबादी महाशयोंने बिना विशेष विचार किये ही इस श्लोकका पाठ लिखकर उसकी व्याख्या की है कि नहीं प्रतिवादी महाशयने किसी किसी स्थान पर पराशर भाष्यका कोई कोई अंश उठाकर भी रखा है। इसलिये उत्तर लिखनेके समय पराशर भाष्य भी उनके पास था इसमें संदेह नहीं। जब उन्होंने दोनों श्लोकोंको उठाकर दोनोंका परस्पर विरोध दर्शानेकी चेष्टा की है तब इन दोनों स्थानों पर भाष्य देख लेना भी आवश्यक था इससे वे ठीक ठीक पाठ भी जान सकते और विना कारण विरोध दिखानेकी चेष्टा न करते। भाष्यकारने प्रथम अध्यायके श्लोककी व्याख्या इस प्रकार की है।

* यह पाठ भाष्यके अनुसार और सब प्रकारसे सम्बद्ध है। श्रीयुत पीताम्बर सेन कविरत्न महाशयने भी अपनी पुस्तकमें इस वचनको उठा कर रखा है उन्होंने प्रतिवादी महाशयके समान जैसा तैसा पाठ उठाकर नहीं रखा बल्कि भाष्य सम्मत ठीक ठीक पाठको लिया है।

भा०—कृतादिष्विव कलौ पतितसम्भाषणादिना न स्वयं पतति किन्तु ब्रह्मवधादि कर्मणा पतितो भवति ।

अर्थ—सत्य आदि युगोंके समान कलियुगमें पतितके साथ वार्त्तालाप करने आदिसे पतित नहीं होता (ब्रह्म) हत्या आदि करनेसे पतित हो जाता है ।

आगे १२ वें अध्यायके श्लोककी प्रस्तावना इस प्रकार लिखी है ।

भा०—यस्तु पतितैर्ब्रह्महादिभिः सह संवत्सरं संसर्गं कृत्वा स्वयमपि पतित स्तस्य प्रायश्चित्तं मनुराह ।

योे येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् संसर्गस्य विशुद्धये ॥ इति ॥

आचार्यस्तु कलियुगे संसर्गदोषाभावमभिप्रेत्य संसर्ग प्रायश्चित्तं नाभ्यधात् । संसर्गदोषस्य पातित्यापादक स्वाभावेऽपि पापमात्रापादकत्वमस्तीत्याह—

आसनात् शयनाद्यानात् सम्भाषात्सह भोजनात् ।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥

अर्थ—जो पुरुष ब्रह्मघाती आदि पतितोंके साथ वर्ष भर संसर्ग करके स्वयं पतित हो गया है मनुने उसका प्रायश्चित्त कहा है ।जो व्यक्ति इनमें जिस पतितके साथ संसर्ग करता है वह संसर्ग दोषको नाश करनेके लिये उसी पतितका प्रायश्चित्त करे ।

किन्तु आचार्य (पराशर) ने कलियुगमें संसर्गका दोष नहीं कहा

है इस अभिप्रायसे संसर्ग दोषका प्रायश्चित्त ही नहीं कहा। संसर्ग दोषसे पतित नहीं होने पर सामान्यत: पाप होता ही है यही बात यहां कहते हैं। पतितके साथ बैठने, सोने, जाने, बात चीत करने और साथ भोजन करनेसे जलमें तेलकी बूंदके समान संसर्ग करने वालेमें भी पाप आ जाता है।

चौदहवाँ परिच्छेद

कलौ पाराशरः स्मृतः ।

यह पराशर वाक्य प्रशंसा सूचक नहीं ।

कोई कोई कहते हैं पराशरने जो कलौ पाराशरः स्मृतः यह वचन कहा है वह प्रशंसात्मक वाक्य है। इसी प्रकारसे प्रायः ग्रन्थकार अपने अपने ग्रन्थकी अधिकता वर्णन किया करते हैं। जैसे—

कृते श्रुत्युदितो मार्ग स्त्रेतायां स्मृतिचोदितः ।

द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥ इत्यागमवचनम् ॥

सत्ययुगमें वेदोक्त धर्म, त्रेतायुगमें स्मृति प्रोक्त धर्म, द्वापर युगमें पुराणोक्त धर्म और कलियुगमें आगमोक्त धर्म है। "इस वाक्यको प्रशंसापरक न जाने' तो शिवके वचन से तो कलिकालमें आगमोंके सिवाय और कोई स्मृति भी स्वीकार करने योग्य नहीं होगी। यदि कूटयुक्तिसे इस श्लोकको कलिमात्रके लिये धर्ममें प्रमाण मानें तव आगमवाक्यको सिद्ध करनेके लिये उसके प्रतिपक्षी लोग क्यों अशक्त होंगे। अर्थात् शिवोक्तिकी प्रधानतासे कलिकालमें स्मृतिवाक्य भी ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

प्रतिवादी महाशयोंने पूर्वोक्त आगमवाक्यको आगमशास्त्रका प्रशंसासूचक वाक्य मान लिया है। और जिसप्रकार यह आगमवाक्य प्रशंसा परक है उसी प्रकार कलौ पाराशरः स्मृतः यह

पराशरका वचन भी प्रशंसात्मक मान लिया है। किन्तु आगम-शास्त्रका उद्देश्य क्या है यह बात विशेष आलोचन करके देखते तो आगमवाक्यको प्रशंसात्मक न मानते। आगमशास्त्र मोह-शास्त्र हैं। दुनिया को मोहने के लिये शिव और विष्णुने आगम-शास्त्र बनाये हैं। जैसे—

चकार मोहशास्त्राणि केशवः स शिवस्तथा।

कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्व पश्चिमम्॥

पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः।

(नागोजीभट्टकृत सप्तशती व्याख्याधृत कूर्मपुराण)

विष्णु और शिवने कापाल, नाकुल, वाम, पूर्वभैरव, पश्चिम-भैरव, पाञ्चरात्र, पाशुपत आदि हजारों मोह शास्त्र बनाये हैं।

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्।

येषांश्रवण मात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि।

प्रथमंतु मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्॥

(नागो जी भट्ट कृत सप्तशती व्याख्याधृतपद्मपुराणे)

हे देवि! सुनो मैं यथाक्रम सब मोहशास्त्र कहूंगा जिन मोहशास्त्रोंको सुनकर ज्ञानी लोग भो पतित हो जायंगे। शैव तथा पाशुपत आदि मोहशास्त्र पहले मैंने ही कहे थे।

यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि च।

श्रुतिस्मृति विरुद्धानि तेषां निष्ठा तु तामसी॥

करालभैरवञ्चापि यामलं वाममेव च।

एवं विधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु॥

मयासृष्टानि चान्यानि मोहायैषां भवार्णवे ॥

(मलमासतत्वधृतकूर्मपुराणे)

इस लोकमें वेद्विरुद्ध और स्मृति विरुद्ध जो नाना प्रकारके शास्त्र देखे जाते हैं ये सर्व तामस हैं अर्थात् उनके अनुसार चलनेसे अन्तमें अधोगति होगी, करालभैरव, यामल, वाम और इसीप्रकार अन्यान्य मोहशास्त्र सब भवसागरमें दुनियाको धोखेमें डुबादेनेके लिये ही मैंने बनाये हैं।

इसी प्रकार आगमशास्त्रोंको स्मृति और श्रुति विरुद्ध मोह-शास्त्र मानकर उनका अधिकारी-भेदसे कोई कोई अंश ग्रहण करने योग्य माना गया है। जैसे—

तथापि योंऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुद्धयते ।

सोंऽशः प्रमाणमित्युक्तः केषाञ्चिदधिकारिणाम् ॥

(नागो जी भट्टकृत सप्तशती व्याख्याधृतसूतसंहिता)

तथापि अर्थात् श्रुति, स्मृतिके विरुद्ध होने पर भी आगमोक्त मार्गका जो अंश वेद विरुद्ध नहीं किसो किसी अधिकारीके लिये वह अंश प्रमाण है।

आगमशास्त्रके अधिकारी कौन है यह बतलाते हैं जैसे—

श्रुतिभ्रष्टः स्मृतिप्रोक्तः प्रायश्चित्तपराङ्मुखः ।

क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं ब्राह्मण स्तन्त्रमाश्रयेत् ।

पाञ्चरात्रं भागवतं मन्त्रं वैखानसाभिधम् ।

वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ॥

(नागो जी भट्टकृत सप्तशती व्याख्याधृत साम्बपुराणे)

वेदसे भ्रष्ट और स्मृतिके कहे प्रायश्चित्तसे पराङ्मुख ब्राह्मण क्रमसे वेद की सिद्धिके लिये तन्त्रशास्त्रका आश्रय करे। विष्णुने

वेद भ्रष्ट लोगोंके लिये पाञ्चरात्र, भागवत, वैखानस मन्त्र आदि शास्त्रोंका उपदेश किया है।

इसप्रकार मोहशास्त्रोंके बनाने वालोंका अभिप्राय पद्मपुराण में इस प्रकार लिखा है कि—

सागमैः कल्पितैस्तैस्तै र्जनान् मद्विमुखान् कुरु ॥

मांच गोपय येनस्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ॥

विष्णु शिवके प्रति कहते हैं:—

तुम्हारे बनाये आगम शास्त्रों द्वारा लोगोंको मुझसे विमुख करो और मुझे छिपा दो जिससे यह सृष्टि प्रवाह बराबर चलता रहे।

इसलिये देखिये, जब विष्णु और शिव दोनोंने परस्पर सलाह करके दुनियांको मोहमें डालने के लिये आगमशास्त्रोंकी रचना की है। लोगोंको अनायास मोह उत्पन्न करने के लिये श्रुति स्मृति और पुराणको पूर्व पूर्व युगका शास्त्र स्थिरकरके कलियुगके लोगोंको केवल आगमशास्त्रोंके अनुसार चलने की व्यवस्था दी है तब "कलावगम सम्भवः" यह वाक्य कभी प्रशंसात्मक नहीं हो सकता। कलियुगमें केवल आगमशास्त्रके अनुसार ही चलना चाहिये यही मोह उत्पादन आगमवाक्यका अर्थ और तात्पर्य है। और जब आगम शास्त्र केवल लोगोंको मोहनेके लिये ही बने हैं तब पूर्वोक्त आगमवाक्यके आधार पर कलियुगमें स्मृतिशास्त्रोंको अप्रमाण करना ही सम्भव नहीं। आगम तो वेदसे विरुद्ध मोहन शास्त्र है और स्मृति वेदोंके अनुसार शास्त्र हैं। इसलिये पूर्वोक्त आगमवाक्यको प्रशंसापरक निश्चित रूपसे और दृष्टान्त मानकर "कलौ पाराशरः स्मृतः।" इस पराशरके वचनको प्रशंसात्मक मानकर निर्णय करना किसी भी प्रकारसे युक्तिसंगत नहीं है।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

मनुसंहितामें चारों युगोंके भिन्न भिन्न धर्म निरूपण नहीं किये हैं।

धर्मशास्त्र किसको कहा जाता है यह बात मैंने याज्ञवल्क्यके श्लोकके अनुसार पहले दर्शा दिया है। अब यही विवेचन करना आवश्यक है कि धर्मशास्त्रमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया है उनको सबधर्मों के लिये मान लेना ठीक है या नहीं। मनु धर्म-शास्त्रके प्रथम अध्यायमें इसका निर्णय किया है। जैसे:—

अन्ये कृतयुगे धर्मा स्त्रेतायां द्वापरे ऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

युगके अनुसार मनुष्योंकी शक्ति घट जानेके कारण सत्ययुगके धर्म और हैं, त्रेता युगके धर्म और हैं, द्वापर युगके धर्म और हैं, और कलियुगके धर्म और हैं, अब यही प्रश्न उपस्थित होता है कि कलियुगके लोग कौनसे धर्मोंका पालन करें। मनुधर्मशास्त्रमें तो यही बात बतलाई है कि युग युगमें धर्म भिन्न भिन्न हैं। परन्तु भिन्न भिन्न युगोंके भिन्न भिन्न धर्मोंका निरूपण नहीं किया गया है कि किस युगमें कौनसा धर्म पालन करना होगा, केवल पराशर प्रणीत ग्रन्थमें इसका निरूपण है। प्रतिवादी महाशय इस बातसे असन्तुष्ट होकर कहते हैं कि—

'किस प्रमाण से आप यह कहनेका साहस करते हैं कि मनु प्रणीत धर्मशास्त्रमें भिन्न भिन्न अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर, और कलियुगके पालन करने योग्य धर्मोंकी भिन्नता नहीं दिखलाई है। "अन्ये कृत युगे धर्माः" मनुसंहिताके केवल इस एक श्लोकको उठाकर अपनी दोनों आखें बन्द कर लेते हैं। और आगे चारों युगोंके धर्म मनुने कहे हैं इसपर दृष्टिपात भी नहीं करते।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।

द्वापरे यज्ञमित्याहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ इति मनुः ॥

सत्य युगका धर्म तपस्या, त्रेता युगका धर्म ज्ञान, द्वापर युगका धर्म यज्ञ और केवल दान ही कलियुगका धर्म हैं।'

प्रतिवादी महाशयोंके इस प्रकार लिखनेका तात्पर्य यह है कि भगवान मनुने "अन्ये कृतयुगे धर्माः" इस श्लोकसे युगभेदसे धर्मभेद होनेकी व्यवस्था की है। इसलिये मनुसंहितामें भिन्न भिन्न युगोंके भिन्न भिन्न धर्म नहीं कहे यह हमारी बात नितान्त असंगत हो गयी। इस विषयमें हमारा यही कहना है कि प्रतिवादी महाशयोंने जो यह निर्णय किया है वह किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। पूर्वोक्त वचनमें जो भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न धर्मोंके होनेका निर्देश है आगे आने वाले वचनोंमें वही भिन्न भिन्न युगोंके भिन्न भिन्न धर्म निरूपण किये हैं। विशेष आलोचना कर देखें तो यह बात किसी प्रकार भी मानी नहीं जा सकता। विशेषकर प्रतिवादी महाशयोंने आगे आनेवाले श्लोकका जो अर्थ लिखा है वही श्लोकका ठीक अर्थ नहीं है इसलिये ये दोनों श्लोक यहाँ पुनः अर्थसहित लिखे जाते हैं। देखते ही पाठकोंको सहज ही में मालूम हो सकेगा कि प्रतिवादी महाशयोंका अभिप्राय सिद्ध हो सकता है या नहीं।

अन्ये कृतयुगे धर्मा स्त्रेतायां द्वापरे परे ॥

अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥

युगानुसार मनुष्यों की शक्ति कम हो जानेके कारण सत्ययुगके धर्म और हैं, त्रेतायुगके धर्म और हैं द्वापर युगके धर्म और, और कलियुगके धर्म और हैं ।

ततः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ।

सत्ययुगका प्रधान धर्म तपस्या, त्रेतायुगका प्रधान धर्म ज्ञान, द्वापरयुगका प्रधान धर्म यज्ञ, और कलियुगका प्रधान धर्म दान है ।

अब पाठक विवेचना करके देखें कि पूर्व श्लोकमें "सत्ययुग के धर्म और" इत्यादि द्वारा भगवान् मनुने भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न धर्म यही व्यवस्था की है, इसी श्लोकमें 'सत्ययुगका प्रधान धर्म तपस्या' इत्यादि कहकर वहीं भिन्न भिन्न युगोंके भिन्न धर्म निरूपण किये कि नहीं । पहले श्लोकमें प्रत्येक युगके धर्म भिन्न हैं यही बतलाया है और दूसरे श्लोकमें किस युगका प्रधान धर्म क्या ? यह भी बतला दिया इसलिये पूर्व श्लोकके साथ इस श्लोक का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता है । किस युगका प्रधान धर्म क्या, यह बतला देनेसे भिन्न भिन्न युगके भिन्न भिन्न धर्म किस प्रकार बतला दिये जा सकते हैं ? विशेष रूपसे पूर्वश्लोकमें धर्म भिन्न हैं यही तो कहा है । इसलिये "धर्माः" ऐसा कहनेसे उस युगके सब धर्म कहे प्रतीत होते हैं । किन्तु दूसरे श्लोकमें एक २ युगका केवल एक एक धर्म कहा है । क्या इतनेसे उस युगके समस्त धर्म कहे गये ? इस लिये जब पूर्व श्लोकमें "धर्माः" इस

प्रकार समस्त धर्मों का उल्लेख है और जब दूसरे श्लोकमें उस २ युगके एक २ ही धर्मका उल्लेख किया है और वह भी प्रधान धर्म बतलाया गया है, तब 'पहले श्लोकमें भिन्न २ धर्मोका निर्देश है और दूसरे श्लोकमें भिन्न २ युगोंके भिन्न धर्म कहे गये है' यह कहना किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं होता।

प्रतिवादी महाशयने "ततः परं कृत युगे" इस वचन का 'सत्य युगका धर्म तपस्या, त्रेता युगका धर्म ज्ञान, द्वापर युगका धर्म यज्ञ, और केवल दान कलियुगका धर्म है' ऐसी व्याख्या की है। सत्य त्रेता द्वापर इन तीन युगोंके विषयमें धर्म यही थे ऐसा कहा, परन्तु "प्रधान धर्म" अर्थ नहीं किया और कलियुगके विषयमें अर्थ करते है "केवल एक दान ही कलियुगका धर्म है।" इस स्थानपर "प्रधान" शब्द नहीं देकर केवल" शब्द लिखा है। यदि ऐसी व्याख्याको ठीक व्याख्या माना जाय तो यही अर्थ बनेगा कि सत्य, त्रेता और द्वापर युगमें क्रमसे तपस्या, ज्ञान और यज्ञके अतिरिक्त दूसरा धर्म नहीं था और कलिमें केवल दानके सिवाय दूसरा कोई धर्म नहीं। अब पाठक वर्ग विवेचना करके देखें कि प्रतिवादी महाशयोंकी व्याख्या ठीक लग सकती है कि उनके मतमें केवल एक दान ही कलियुगमें धर्म है, सुतरां व्रत, उपवास, जप. होम, देवार्चन, तीर्थ पर्यटन आदि कलियुगके धर्म नहीं हैं। वस्तुतः तपस्या आदि सब धर्म सभी युगोंके हैं, केवल तपस्या आदि एक २ धर्म, सत्य आदि एक २ युगका प्रधान धर्म है यही मनुके वचनका अर्थ और तात्पर्य्य है। इस वचनमें 'पर' और 'एक' शब्द तपस्या आदि का विशेषण है 'पर और 'एक' शब्दसे प्रधान अर्थ ही जाना जाता है। देखिये, प्रतिवादी महाशयोंने इन दोनों शब्दोंका 'केवल' यही अर्थ समझकर इस प्रकारकी उलटी व्याख्या की है। इस श्लोलकमें 'पर' और 'एक' शब्दोंका

केवल अर्थ न समझकर 'प्रधान' यही अर्थ समझना उचित है यह बात कुल्लूक भट्टकी व्याख्यासे भी प्रमाणित होती है । जैसे—

यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमितिज्ञाप्यते एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे, द्वापरे यज्ञः, दानं कलौ ।

यद्यपि तपस्या आदि सभी धर्म सभी युगमें करने योग्य हैं तथापि सत्य युगमें तपस्या प्रधान अर्थात् तपस्याका बड़ा फल है, इस प्रकार त्रेता युगमें आत्मज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें दानका बड़ा फल है ।



सोलहवां परिच्छेद

पराशरसंहितामें

पतित भार्याको त्यागनेका निषेध है और पतित पतिका तिरस्कार करनेका निषेध नहीं है।

कतिपय महाशय कहते हैं—(१) पराशर संहितामें पतित भार्याके त्याग करनेका निषेध है, इस लिये पतित पतिको छोड़कर स्त्रीका पुनर्विवाह करना संगत नहीं हो सकता।

(२) पराशर संहितामें कोढ़ आदि भयंकर रोगसे पीड़ित पतिको त्यागनेका भी निषेध है, इस लिये पतित पतिको त्यागकर अन्य पतिको स्वीकार करना पराशर को अभिमत नहीं हो सकता। *

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि पराशर संहितामें किसी स्थानपर भी पतितके त्यागका निषेध नहीं। प्रतिवादी महाशयने यह आपत्ति किस श्लोकको देखकर उठाई यह पता नहीं लगता। प्रतीत होता है कि,

अदुष्टां पतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्।

सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः॥

जो व्यक्ति दोषरहित अपतित स्त्रीको यौवन कालमें परित्याग करे वह सात जन्मोंमें स्त्री होकर पुनः पुनः विधवा होजाता है।

---

* भाटपाड़ा निवासी श्रीयुत रामदयाल तर्करत्न।

इस वचनमें अपतित भार्याके जो त्यागका निषेध है प्रतिवादी महाशय यह देखकर ही पतित भार्याके त्यागका निषेध मान लेंगे।

दूसरी आपत्तिका तात्पर्य यही है कि कोढ़ी और उसके समान दूसरे किसी रोगसे पीड़ित पुरुष पतित हैं। यदि उस प्रकारके पतित पतिके प्रति तिरस्कार करनेका निषेध हो और पतित पतिको एकवार त्यागकर पुनर्वार विवाह करे यह पराशरका अभिमत माना जाय तो ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध होजाती हैं।

प्रतिवादी महाशय की व्याख्याके अनुसार यद्यपि पराशर संहितामें कोढ़ी आदि पतिका भी तिरस्कार करनेका निषेध है, तो भी पतित पतिको त्याग कर पुनः विवाह करनेका विधान असंगत नही हो सकता, क्यों कि पुनः विवाह विधायक श्लोकमें पतित पतिको त्याग करके पुनः विवाह करनेका विधान है। और दूसरे श्लोकमें कोढ़ी आदि पतिके तिरस्कार करनेका निषेध है। वहां 'पतित' शब्दका प्रयोग नहीं है। इसलिये विषय भेद की व्यवस्था करलेनेपर हीं विरोध दूर हो सकता हैं। अर्थात् कोढ़ी आदि पति पतित होनेका प्रायश्चित्त करले ऐसी अवस्थामें ही उसके तिरस्कार न करनेका निषेध है क्योंकि प्रायश्चित्त करलेने पर वह और अधिक पतित नहीं रहता और यदि प्रायश्चित्त न करके वह पतित ही बना रहे तो उसको छोड़कर स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है इस प्रकार दोनों श्लोकोमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रहता।

किन्तु जिस श्लोकमें स्वामीका तिरस्कार करनेका निषेध है उसी वचनमें कोढ़ी भी पतित गिना जाय यह कहीं नहीं कहा गया। इस लिये इस स्थानपर वैसी कोई आपत्ति भी नहीं उठ सकती है। जैसे

दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्त्तारं या न मन्यते।

सा मृता जायते व्याली वैधव्यं च पुनः पुनः ॥

जो स्त्री दरिद्र, रोग युक्त, मूर्ख पतिका अपमान तिरस्कार, करती है वह स्त्री मरकर नागिन होती है और वार २ विधवा होती है।

यह ध्यान रखिये कि प्रतिवादी महाशयने व्याधित शब्दसे गलत्-कुष्ठ आदि का ग्रहण किया है। किन्तु जिस २ स्थानमें 'व्याधित' शब्दका प्रयोग है उन सब स्थानोंपर 'रोगी' अर्थ ही प्रतीत होता है। पतितता बतलानेवाले शब्दसे कोढ़ी आदिका बोध नहीं होता। जैसे—

हीनाङ्ग व्याधितं क्लीवं वृषं विप्रो न वाहयेत् ॥

(पराशर संहिता अ० २)

ब्राह्मण हीनाङ्ग व्याधि युक्त नपुंसक बैलको हलमें न जोते। इस स्थानपर 'व्याधित' शब्दसे पीड़ित मात्र अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् ब्राह्मण पीड़ित बैलको हलमें न लगावे।

व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः।

अन्यथा शास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः ॥

(नारद संहिता ३ विवाद पद)

व्याधिग्रस्त, क्रोधित, विषयासक्त और शास्त्रको पलटनेवाला पिता धनके बांटनेका अधिकारी नहीं है। अर्थात् पिता यदि पीड़ा (रोग) के कारण बुद्धि विचलित हो या किसी पुत्रपर क्रोध हो या विषय विलासमें मस्त हो या (अन्यथा शास्त्रकारी) अर्थात् शास्त्र (कानूनकी पुस्तक) के अनुसार विभाग करनेपर सहमत न हो, वह धनके बांटनेका अधिकार नहीं रखता। अर्थात् उसका किया हुआ धन विभाग ठीक नहीं। इस स्थानपर "व्याधित" शब्दसे पीड़ित मात्र ही प्रतीत होता है कोढ़ी, पतित आदि अर्थ प्रतीत नहीं होता।

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधंपथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥

हे कुन्ति नन्दन ! दरिद्रका पोषण करो, धनवानको धन मत दो, रोगी आदमीको औषध आवश्यक होती है, नीरोग व्यक्तिको औषधका क्या प्रयोजन ?

इस स्थानपर भी 'व्याधित' शब्दसे पीड़ित मात्र ही प्रतीत होता है। इस प्रकार जिस जिस स्थानपर व्याधित शब्दका प्रयोग है इन सब स्थानोंपर पीड़ित अर्थ ही ज्ञात होता है किसी स्थानपर पतितताका सूचक, रोगसे पीड़ित, गलत् कोढ़ आदिका ज्ञान नहीं होता। व्याधि शब्दके प्रयोगपर और भी आलोचना करें तोभी "दरिद्रं व्याधितं मूर्खं" इस श्लोकमें गलत् कुष्ठ आदि अर्थका बोध नहीं हो सकता। क्योंकि दरिद्र और मूर्खके साथ सामान्य रोगीकी गणना करना ही सम्भव है कोढ़ी, पतित आदिकी गणना करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकती। और अमरसिंहके बनाये अभिधान (कोष) ग्रन्थमें व्याधित शब्द का पर्याय देख लें तो भी व्याधित शब्दसे सामान्य रोगीका बोध होता है, पतितका बोध नहीं होता यह साफ प्रतीत होता है।

आमयावी विकृतो व्याधितोऽपटुः ।
आतुरोऽभ्यमितोऽभ्यान्तः ॥ (मनुष्य वर्ग)

और मनु संहिता देखिये। इस स्थानपर व्याधित शब्दसे गलत् कुष्ठ आदि पतितका बोध नहीं होता इसमें कोई और संदेह नहीं रहता। जैसे—

अतिक्रामेत् प्रमत्तं वा मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।
सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ९।७८ ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीव मबीजं पापरोगिणां।

न त्यागोऽस्तिद्विषात्याश्च न च दायाप वर्त्तनम् ॥ ६।७६ ॥

जो स्त्री प्रमत्त, मत्त, अथवा रोगार्त्त स्वामीका तिरस्कार करे उससे वस्त्र आभूषण छीनकर तीन मासतक छोड़ दे। यदि स्त्री उन्मत्त, पतित, नपुंसक, पुत्रके उत्पादनमें शक्ति हीन अथवा कुष्ठादि रोगसे ग्रस्त पतिका तिरस्कार करे तो भी उसको त्याग न करे और उसका धन भी उससे न छीने।

इस स्थानपर मनुने पहले श्लोकमें रोग पीड़ित स्वामीके तिरस्कार करनेपर दण्ड विधान किया है और अगले श्लोकमें पतित और कुष्ठ आदि रोगसे पीड़ित पतिके प्रति तिरस्कार करने पर दण्डका निषेध किया है।

इसलिये व्यापिन शब्दसे यदि गलत्कुष्ठ आदि पतित अर्थ नहीं जाना जाता तो भी प्रति वादी महाशयने वही अर्थ मान कर विवाह विधायक वचनोंके साथ उसका विरोध लगाकर जिस आपत्ति को उठाया था वह आपत्ति किस प्रकार संगत हो सकती है?



सतरहवाँ परिच्छेद

स्मृति शास्त्रमें अर्थावाद प्रमाण है

कई लोगोंने यह निर्णयकर लिया है कि, विद्यासागर महाशयने जिस २ युक्तिसे विधवाविवाहको शास्त्र-सिद्ध लिखा है वह हम अपनी तुच्छ विवेचनामें जिन २ कारणोंसे ठीक नहीं उसको प्रथम लिखकर जिस शास्त्र वचनमें विधवा विवाहका प्रतिपादन है उनको भी कहेंगे और तुच्छ विवेचनामें उनमें जो समर्थ प्रमाण है उनका भी उल्लेख करेंगे।

उन्होंने अपनी पुस्तकमें—

अन्ये कृतयुगे धर्मा स्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।

अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥

मनुसंहिताके इस वचनका उल्लेख करके युग भेदसे धर्म भेद होनेका वर्णन करके किस युगमें किस धर्मका पालन करना चाहिये केवल पराशर प्रणीत धर्म शास्त्रमें ही उनका वर्णन है इसी प्रसंङ्गमें पराशर संहिताके प्रथमाध्यायका—

कृते तु मानवो धर्म स्त्रेतायां गौतमः स्मृतः।

द्वापरे शंखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृत॥

इस श्लोकका उद्धरणकर यह सिद्धान्त किया है कि मनु आदिके बनाये धर्म कलियुगमें पालन करने योग्य नहीं। केवल

पराशर प्रणीत धर्म ही कलियुगमें पालन करने योग्य हैं । उनका यह सिद्धान्त संगत नहीं है । क्योंकि वेदार्थकी मीमांसा करने वाले भगवान जैमिनिने जिस प्रकारसे वेदार्थका उपदेश किया है उसी प्रकार वेदके अनुसार स्मृति आदिके अर्थोंका निश्चय करना होगा । मीमांसा शास्त्रमें भगवान् जैमिनिका यही उपदेश है कि—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ॥

इसका तात्पर्य यही है कि विधि युक्त वाक्य अर्थात् जिस वाक्य में कोई क्रियाका विधान है वह तो प्रमाण है । इससे अर्थ वाद वाक्य व्यर्थ हो जानेपर मन्त्रार्थके बाध होनेपर भी दोष आता है । उसके निवारण करनेके लिये भगवान जैमिनिने यही मीमांसा की है कि—

स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।

इसका तात्पर्य यही हैं कि अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यके स्तुतिके लिये होकर उससे सम्बद्ध रहता है । "कृते तु मानवा धर्माः" इस वचनमें लिङ् प्रत्यय या उसी अर्थको कहने वाले लोट् आदि प्रत्यय नहीं हैं । अर्थात् विधि वोधक कोई पद नहीं है इस लिये उस वचनको स्तुति वाक्य मान कर सम्बन्ध किये बिना और कोई सिद्धान्त किया नहीं जासकता ।

इस लिये कलियुगके धर्म वक्ता केवल पराशर हैं यह "कृते तु" इत्यादि श्लोकका अर्थ नहीं हम यह पहलेही लिख आये हैं कि अर्थवादका प्रामाण्य नहीं है । उसको दूसरी वार कहनेका कोई प्रयोजन नहीं । *

प्रतिवादी महाशयका अभिप्राय यही है कि "कलौ पाराशरः स्मृतः" 'इस वाक्यमें विधिबोधक पद नहीं है। इसलिये यह वचन

* काष्ठशाखिनिवासी श्रीयत बाव शिवनाथराव ।

अर्थवाद है । इस लिये इस वचनका प्रामाण्य नहीं है। यदि "कृते तु मानवो धर्मः" इस वचन का प्रामाण्य न रहे तो कलियुगमें पराशरका वचन ग्रहण करने योग्य है इस बातका भी प्रामाण्य न रहेगा ।

प्रतिवादी महाशयके उठाकर रखे हुए दोनों सूत्रोंमें भगवान जैमिनिने जिस प्रणालीसे वेदार्थका विचार करनेका उपदेश दिया है उसी प्रणालीसे वेदानुकूल स्मृति आदि शास्त्रोंको मीमांसा भी करनी चाहिये, इसमें प्रतिवादी महाशयने कोई प्रमाण नहीं दिखलाया। केवल उनके सिद्धान्तपर निर्भर करके 'कलौ पाराशरः स्मृतः' इस ऋषि वाक्यको अप्रमाण नहीं माना जा सकता प्रत्युत भगवान जैमिनीने उक्त दोनों सूत्रोंमें वेदार्थकी मीमांसा करनेकी जिस प्रणालीका उपदेश किया है स्मृति आदिकी मीमांसा करनेके समय भी उसी प्रणालीका अवलम्बन करना होगा उसका सुस्पष्ट प्रमाण भी पाया जाता है कि--

भाष्य—अथोच्यते स्मृतीनां धर्मशास्त्रत्वात्तासु धर्ममीमांसाऽनुसर्त्तव्या तस्यां न कस्याप्यर्थवादस्य वाक्यार्थप्रामाण्यमभ्युगम्यते इति तदेतद्वचनं स्मृतिभक्तंमन्यस्य मीमांसकंमन्यस्य चानर्थायैव स्यात मूषकभयात् स्वगृहंदग्धमिति न्यायावतारात् कस्यचिदर्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यं भविष्यतीति भयेनार्थवादैकप्रसिद्धानां स्मृतीनां मन्वादीनां मीमांसा सूत्रकृज्जैमिनेश्च सद्भावस्यैव परित्यक्तव्यत्वादशेषेतिहास लोपप्रसङ्गाच्च । तस्मात् प्रमाणमेव भूतार्थवादः । (पराशरभाष्य)

अर्थ—यदि कहें सब स्मृतियां धर्मशास्त्र हैं इसलिये भगवान् जैमिनि ने धर्म मीमांसा की प्रणाली बतलायी है उसीके अनुसार

स्मृतियोंकी मीमांसा करनी चाहिये। जैमिनि प्रोक्त धर्ममीमांसा की प्रणालीसे अर्थवादका प्रमाण नहीं स्मृतियोंकी मीमांसा करने के अवसरमें भी अर्थवादोंका प्रामाण नहीं ऐसा कहे तो स्मृतिभक्त मीमांसके होनेके अभिमान करने वाला दोनो प्रकारसे फंसता है। मूषकके भयसे अपने घरको फूंकलेनेकी कहावत यहां घटती है। कहीं अपने प्रतिकूल अर्थवाद प्रमाण न माना जाय इस भयसे समस्त अर्थवादोंको अप्रमाण मान लिया गया है। मनु आदि स्मृतिकार और मीमांसाशास्त्रकार जैमिनि किसी न किसी समय थे यह बात भी मानने योग्य नही, क्योंकि उनकी विद्यमानताके विषयमें अर्थवादके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। इसप्रकार समस्त इतिहासशास्त्र अप्रमाणित हो जायगा। इसलिये अवश्य ही अर्थवादका प्रमाण स्वीकार करना होगा।

इसलिये स्मृतिशास्त्रमें अर्थवादका प्रामाण नहीं इस कारण "कलौ पराशर स्मृतः" यह अर्थवाद वाक्य प्रमाण नहीं, प्रतिवादी महाशयकी यह युक्ति ठीक प्रकारसे तर्कसंगत नहीं है।

प्रतिवादी महाशयने

"कलौ पाराशरः स्मृतः"

इसस्थानपर अर्थवादको प्रमाण न मानने की चेष्टा की है किन्तु दूसरे स्थानपर स्वयं अर्थवादको प्रमाण मानकर कहा है—

"अपि च छान्दोग्ये ब्राह्मणे मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः।

यह वेदका प्रमाण और

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्रामाण्यं हि मनोःस्मृतं।

मन्वर्थ विपरीता या सास्मृतिर्न प्रशस्यते ॥

अस्यार्थः—वेदार्थ कहे जानेके कारण मनुस्मृतिकी प्रधानता

हैं, मनुकी बातको काटनेवाली स्मृति माननीय नहीं अर्थात् अन्य संहिताओंके किसी वचनका यथावत् अर्थ यदि मनुके वचनके विपरीत हुआ तब भी मनुवचनके अर्थके साथ उसकी संगति लगाकर अन्य संहिताके उस वचनको मानना चाहिये।"

यहां इतना ही कहना है कि यदि प्रतिवादी महाशयके मनमें "कलौ पराशर स्मृतः" इस अर्थवादका प्रामाण्य नहीं है तब "प्राधान्यं हि मनो:स्मृतम्" इस स्थानपर भी अर्थवादका प्रामाण्य नहीं है। "कलौ पराशरः स्मृतः" जिस प्रकार विधिबोधक पद नहीं उसी प्रकार "प्राधान्यं हि मनो; स्मृतम्"में भी विधिबोधक पद नहीं है। यदि प्रतिवादी महाशय "प्राधान्यं हि मनो: स्मृतम्" यह अर्थवाद वाक्य लेकर मनुस्मृतिको सब स्मृतियोंकी अपेक्षा प्रधान मानकर व्याख्या करें तो "कलौ पाराशरः स्मृतः" इस अर्थवादके अनुसार कलियुगमें पराशर स्मृतिके अनुसार चलना चाहिये यह बात कहने में क्या बाधा है। इन दोनो अर्थवाद वाक्योंके किसी अंशमें कोई भेद नहीं दिखाई देता।

अठारहवां परिच्छेद ।

.ाग्दानके बाद यदि वर लापता हो जाय तो तो कन्याका पुनर्दान करनेका निषेध नहीं।

कतिपय लोग कहते हैं कि यदि वाग्दान के बाद वर मर जाय या लापता हो जाय तो वाग्दानद्वारा दान की हुई कन्याका फिर विवाह नहीं हो सकता, तब फिर विवाह होनेपर यदि विधवा हो जाय तो पुनः उसका विवाह किस प्रकार हो सकता है ?*

जिन महाशयने यह आपत्ति उठाई उन्होंने पूर्व पुस्तकमें जो हमने लिखा था उसका अभिप्राय ठीक प्रकारसे समझा नहीं। क्यों कि वाग्दान होनेके बाद यदि वर लापता आदि हो जाय तो कन्या का पुनः विवाह नहीं हो सकता, हमारे लेखके किसी अंशसेभी इस प्रकारका अभिप्राय प्रकट नहीं होता। हमने तो यही कहा था कि पूर्वपूर्व युगोंमें यही व्यवस्था थी कि किसी व्यक्तिका वाग्-दान करने पर बादमें उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट वर प्राप्त हो जाय तो उसको ही कन्यादान किया जाय बृहन्नारदीयके वचन द्वारा इस प्रकारके व्यवहारका निषेध होता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि जिसके साथ वाग्दान किया जाता है उसके साथही कन्यादान किया जाय, यदि बादमें पहले वरकी अपेक्षा उत्कृष्ट वर प्राप्त हो तो पहले वरको न दे कर उत्कृष्ट वरको देना उचित नहीं है। अर्थात् जिससे पहले प्रतिज्ञा कर ली जाय उसीको कन्यादान

---

* भाट पाड़ानिवासी श्रीयुत रामदयाल तर्करत्न ।

करना चाहिये उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट वर पा लेनेपर प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिये । इसी कारण स्वायम्भुव मनु ने कहा है ।

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु मानवाः ।

यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ६।९९ ॥

कभी कोई एक भद्रपुरुष एकको दान करनेकी प्रतिज्ञा करके पुनः दूसरेको दान नहीं करता ।

हमारे लिखनेका यही अभिप्राय साफ प्रतीत होता है । व्यर्थ क्लिष्ट कल्पना कर लेने पर भी वाग्दान करनेके बाद वरके मर जानेपर या लापता हो जानेपर कन्याका और विवाह नहीं हो सकता इस प्रकारका अभिप्राय प्रकट नहीं होता ।

उन्नीसवां परिच्छेद।

पराशरका विवाह विधान नीच जाति-विषयक नहीं है।

किन्हीं किन्हीं महाशयने पराशरके वचन को वाग्दत्ताके विषयका सिद्ध करनेकी चेष्टा करके उपसंहार में कह दिया;—

'अथवा नीच जातिमें इस प्रकार स्त्रीका स्वामी लापता आदि हो जाय तो वह अन्य पति करे यही पराशर भाष्यकार माधवाचार्यने लिखा है।

इस स्थानपर हमें यही कहना है कि माधवाचार्यने अपने पराशर भाष्यके किसी स्थानपर भी विधवा विवाह विधायक वचन को नीच जातिके लिये कहीं व्यवस्था नहीं की। प्रतिवादी महाशयने पराशर भाष्यको विना देखे यह बात लिखी है इसमें कुछ संदेह नहीं। प्रतिवादी महाशय इस वंगदेशके एक प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित हैं। पराशर भाष्य विना देखे केवल अनुमानके आधारपर अनायास पराशरभाष्यमें ऐसा लिखा है इसप्रकार कह देना उस प्रकारके प्रसिद्ध पण्डितके लिये अन्याय है। फलतः अनुमान प्रमाणका अवलम्बन करनेके पहले प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय लेना अति आवश्यक है।

बीसवां परिच्छेद।

पिता विधवा कन्याको पुनः दान कर सकता है।

बहुतसे महाशयोंने यह आपत्ति की है कि विधवा कन्याके दान करनेका अधिकार किसको ह। पिताने जब एक वार दान कर दिया तब उसका कन्यापरसे अधिकार नष्ट होगया। जब उसका कन्या पर और अधिक काल अधिकार न रहा तब वह किस प्रकार पुनर्वार दूसरे पुरुषको वही कन्या दान कर सकता ह।

आज कल हमारे देशमें :केवल दो प्रकारका विवाह सर्वत्र प्रचलित है। ब्रह्म और आसुर अर्थात् कन्यादान और कन्या विक्रय। ये दान और विक्रय दोनों शब्द और अन्य स्थानोंपर प्रयोगमें आनेवाले दान और विक्रय शब्दोंके समान अर्थके बोधक नहीं हैं। अन्यान्य दान और विक्रय के अवसर पर देखा जाता है कि जिस पुरुषका जिस वस्तुपर स्वत्व है वह उसको दानकर सकता और बेच सकता है। जब एकवार दान दे दिया या बेच दिया तब उस पुरुषका उस बस्तुपरसे स्वत्व नष्ट हो जाता है। फलत: उस पुरुषका उस वस्तुपर और कोई अधिकार दान देनेया बेचनेका रह नहीं जाता। भूमि, घर, बाग, गाय, घोड़ा, भैंसआदि वस्तुओंके दान करने और बेचनेके अवसरपर यही नियम बराबर चला आता है। परन्तु इस प्रकारके दान करने बेचनेकी कन्याके दान करने और बेचनेके साथ किसी अंसमें भी समानता

नहीं है। भूमि गाय आदि पर जिस पुरुषका स्वत्व होता है वह उनको दान कर और बेच सकता है जिस पुरुषका अधिकार नहीं होता वह कभी दान और विक्रय नहीं कर सकता। यदि देववश वह दान भी कर दे तो भी वह दान आदि उसके वास्तविक स्वामीके द्वारा न हुआ होनेके कारण दान किया नहीं माना जाता किंतु कन्यादानमें ऐसा नहीं होता। विवाहके अवसरका दान वाचनिक दान होता है। शास्त्रकारोंने दानको विवाहका विशेष अंग ही कहा है। इस विवाहके दानको जो कोई पुरुष भी करे, विवाह कार्य हो ही जाता है। कन्यापर जिसका स्वत्व होनेकी सम्भावना होती है उस व्यक्तिके दान करने पर भी तो विवाह होही जाता है पर जिस पुरुषका कन्यापर स्वत्व रहनेकी कभी किसी प्रकारकी भी सम्भावना नहीं उस पुरुषके दान करने पर भी विवाह उसी प्रकार सम्पन्न हो जाता है। और और वस्तुओं पर जिनका स्वत्व नहीं वे उनके दान करनेके हकदार कभी भी नहीं होते किन्तु विवाहके अवसर पर सभी सजातीय लोग कन्या दान करनेके अधिकारी हो जाते हैं, जैसे—

पिता दद्यात् स्वयं कन्यां भ्रातात्वनुमतः पितुः ।

मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा ॥

मातात्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते ।

तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः सजातयः ॥

(उद्वाहतत्वधृत नारद वचन)

पिता स्वयं कन्यादान करे। अथवा भ्राता पिताकी अनुमति लेकर दान करे। इसी प्रकार मातामह मामा, जाति बान्धव कन्यादान करें। सबके अभावमें माता कन्यादान करे यदि वह

जीवित हो, यदि वह भी न हो तो सजातीय लोग ही कन्या दान करें।

देखिये यदि शास्त्रकारों का यही अभिप्राय होता कि भूमिदान, गोदान, आदिके नियम ही सब कन्यादानके अवसरपर लागू हों अर्थात् जिसका अधिकार है वही कन्याका दानकर सके और जिसका स्वत्व न हो वह दान न कर सके तब तो ज्ञाति बान्धव और सजातीय लोग किस प्रकार कन्यादानके अधिकारी हो सकते हैं। कन्यापर पिता माताका ही स्वत्व रहनेकी सम्भावना है नाना, मामा, और जातिवाले बन्धु और सजातीय लोगोंके स्वत्व रहनेकी कोई भी किसी प्रकारसे भी सम्भावना नहीं है। यदि भूमिदान, गोदान, आदिके समान कन्यादानके अवसरपर जिनका अधिकार रहे वही दान कर सकें यह नियम होता तो नाना आदिको कन्यादानका अधिकारी न बतलाते। इसी प्रकार माता ही सबसे अन्तमें अधिकारी क्योंकर गिनी जाती है। पितासे उतरकर माताको दान करनेका अधिकारी गिना जाना उचित था। वस्तुतः, पृथ्वी गाय, आदि पर जिस प्रकार अधिकार रहता है कन्यापर इस प्रकार अधिकार नहीं रहता। यदि कन्यापर भी उसी प्रकार अधिकार रहता तो पिता की सम्मति रहते हुए अन्य आदमीके हाथका किया हुआ दान दान न माना जाता। कभी २ ऐसा भी होता है कि पिताको पता भी नहीं लगता और उसकी सम्मति भी सर्वथा नहीं होती और और व्यक्ति कन्याको विवाहमें दान दे देते हैं। किन्तु तो भी वह विवाह किस प्रकार ठीक मान लिया जाता है? पिता अपने अधिकारके पदार्थ कन्या को दूसरेके हाथसे दिये जानेपर मालिक से न दी होनेके कारण कचहरीमें मामला चलाकर उसको नाजायज क्यों नहीं ठहरा देता, दूसरेकी भूमि और धनको जब

दूसरा पुरुष दान करे तो वह दान कभी जायज़ नहीं कहाता, कचहरीमें मामला चलाने पर वह दान मालिकसे नहीं दिया होने के कारण वापिस भी हो जाता है । इस लिये कन्या दानके अवसरपर दान केवल कहने भरको दान है। वह भूमि, गाय आदिके समान अधिकार मूलक नहीं। यदि कन्यादान अधिकार मूलक दान न हो कर केवल विवाह संस्कारका एक अंग मात्र कहने भरका दान है तो पिता एकवार पुरुषके हाथ दान दे और जब दान ग्राही पात्र की मृत्यु हो जाय या और कोई दुर्घटना उपस्थित हो जाय तो वह उसी कन्याको फिर अन्य पात्रमें दान क्यों नहीं कर सकता ? कन्याके प्रथम विवाहके अवसरमें "पिता दद्यात् स्वयं कन्याम्" इत्यादि वचनोंमें दान करनेकी जिस प्रकार विधि है और और वचनोंमें भी विवाहिता कन्याको भी विशेष २ अवसरोंपर दूसरे पात्रोंके हाथोंमें भी दान करनेका विशेष रूपसे स्पष्ट विधान दिखाई देता है जैसे ।

सतु यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीव एव च ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढा पि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषणा ।
(पराशर भाष्य और निर्णयसिन्धु धृत कात्यायन वचन)

जिसके साथ कन्याको विवाह दिया जाय यदि वह पुरुष अन्य जातिका हो, पतित हो, नपुंसक हो, यथेच्छाचारी, सगोत्र दास अथवा चिररोगी हो तो विवाहिता कन्याको वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित करके अन्य पात्रके हाथमें दानकर दिया जाय।

देखिये, इस स्थानपर विवाहिता कन्याको भी विधानके अनुसार पुनः दान करने का स्पष्ट विधान है। यदि एक वार कन्या को दान किया और किसी भी अवस्थामें उसी कन्याको

पुनः दूसरे पात्रके हाथमें दान देनेका अधिकार पिताको न रह जाता तो महर्षि कात्यायन पतिके पतित, नपुंसक, चिर रोगी आदि होजानेपर विवाहिता कन्याको पुनः अन्य पात्रमें दान करने के लिये इस प्रकार स्पष्ट विधान न करते। और इस विषयमें केवल विधि मात्र ही पायी जाय ऐसा नहीं, पिताओंने विधवा कन्याओंको दूसरे पात्रोंमें दान भी किया है इसके दृष्टान्त भी इतिहासमें पाये जाते हैं।

अर्जुनस्यात्मजः श्रीमान् निरावान्नाम वीर्यवान्।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥
ऐरावतेन सा दत्ता ह्यनपत्या महात्मना।
पत्यौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना॥

(महाभारत भीष्म पर्व, ९१ अध्याय)

नागराजकी कन्यामें अर्जुनका इरावान् नामक श्रीमान् वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, सुपर्ण (गरुड़) ने इस कन्याके पतिको मार दिया था, नागराज महात्मा ऐरावतने उस दीन दुःखिया पुत्र हीन कन्याको अर्जुनके हाथों दान दे दिया।

इस लिये, देखिये, जब कन्यादान स्वत्व मूलक दान न हो कर केवल विवाहका अंगहो कर कहने भर को दान है, जब शास्त्रमें विवाहिता कन्याके पुनः यथाविधि दूसरे पात्रमें दान करनेका स्पष्ट विधान देख पड़ता है और जब विधवा कन्याको पिताने दूसरे पात्रमें दान भी किया उसका स्पष्ट प्रमाण पाया जाता है तब कन्याका दान करने पर पिताका अधिकार नष्ट हो जाता है इस लिये पिता उस कन्याको पुनः दूसरे पात्रमें दान नहीं कर सकता, यह आपत्ति किसी प्रकार भी तर्कसंगत नहीं।

——:०:——

इक्कीसवां परिच्छेद

विधवाके विवाहके अवसरमें पिताका गोत्र कहकर दान करना चाहिये

यहां यह विवेचना करनी भी अवश्यक है कि विधवा कन्याको विवाहमें देनेके अवसर पर कन्या दान करनेके समय किस गोत्र का उच्चारण करना चाहिये। इस विषयमें निर्णय करते समय प्रथम गोत्र शब्दका अर्थ क्या है इस का निरूपण करना ही आवश्यक है।

गोत्र शब्दका अर्थ यह है कि—

विश्वामित्रो जमदग्नि र्भरद्वाजो गोतमः अत्रि र्वसिष्ठः काश्यपः इत्येते सप्तर्षयः। सप्तर्षीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमित्याचक्षते।

(पराशर भाष्यधृत बोधायन वचन)

विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गोतम, अत्रि, वसिष्ठ, काश्यप, अगस्त्य इन आठ ऋषियोंकी सन्तान परम्परा उनको गोत्र कहते हैं।

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽत्रिगोतमाः।

वशिष्ठकाश्यपागस्त्यमुनयो गोत्रकारिणः।

एतेषां यान्यपत्यानि तानि गोत्राणि मन्वते ॥

(पराशर भाष्य और उद्वाहतत्वधृत स्मृति)

जमदग्नि, भारद्वाज, विश्वामित्र, अत्रि, गोतम, वशिष्ठ, काश्यप, अगस्त्य, यही कुछ एक मुनि गोत्र कर्त्ता हैं। इनकी सन्तान परम्पराको गोत्र कहते हैं।

इन दोनों शास्त्र वचनोंके अनुसार जमदग्नि आदि आठ मुनियोंकी सन्तान परम्पराका नाम गोत्र है। अमुक, गोत्र कहनेका तात्पर्य यही है कि अमुक अमुक ऋषिके वंशमें उत्पन्न हुआ। अथवा अमुक मुनि अमुक वंशका आदि पुरुष है।

अव यह विवेचन करना आवश्यक है कि विवाहके अवसर-पर गोत्रका उल्लेख किस प्रकार हो सकता है।

ऋष्यशृंगने कहा है—

वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामह पूर्वकम्।

नाम संकीर्त्तयेद्विद्वान् कन्यायाश्चैवमेव हि ॥

वरके प्रपितामहके साथ गोत्रका उच्चारण करके नाम उच्चारण करना चाहिये। इसीप्रकार कन्याका भी।

अर्थात्, वरके प्रपितामह, पितामह और पिताका नाम लेकर गोत्र उच्चारण करके उसका नाम कहना चाहिये वरके समान ही प्रपितामह (परदादा) आदिका नाम उच्चारण करके अन्तमें उसका गोत्र और नाम उच्चाण करे। अर्थात्, कन्या किसकी परपोती, किसकी पोती, और किसकी पुत्री, और कन्याका गोत्र क्या यह सब कह कर कन्याका नाम लेकर वरको दान कर देनी चाहिये। इससे साफ तौरपर पता लगता है कि कन्या किसकी परपोती, किसकी पोती और किसकी पुत्री और किस वंशमें उत्पन्न

हुई है यह सब कहकर विवाहके अवसर पर परिचय दिया जाता है। इसलिये प्रपितामह, पितामह, पिता, और वंशके आदि पुरुषका परिचय देना, विवाहके अवसरपर प्रपितामह आदिके नामोच्चारण और गोत्र कहनेका उद्देश्य होता है। जब वंशके आदिपुरुषका परिचय देनाही विवाहके अवसरमें गोत्रोल्लेखकरनेका उद्देश्य होता है तब दूसरीवार विवाहके अवसर पर भी प्रथम विवाहके समान पितृगोत्रका ही कीर्त्तन करना चाहिये। अन्य गोत्रमें विवाह होता है मानकर दूसरीवारके विवाहके अवसर पर पितृगोत्रके उच्चारण करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि जो व्यक्ति जिस वंशमें उत्पन्न होता है किसी अवस्थामें भी उसका, उसके वंशका या वंशके आदि पुरुषका परिवर्त्तन नहीं हो सकता। विचार कीजिये, दृष्टान्तके तौर पर जैसे, काश्यप मुनिके वंशमें उत्पन्न हुई एक कन्याका शाण्डिल्य वंशमें उत्पन्न हुए एक पुरुषके साथ विवाह हुआ। इस विवाहसे कन्याका काश्यप वंशमें पैदा होना किस प्रकार मिट सकता है। जिस प्रकार विवाह होनेपर पिताका परिवर्त्तन नहीं होता, पितामहका परिवर्त्तन नहीं होता, उसीप्रकार वंशके आदि पुरुषका परिवर्त्तन भी नहीं हो सकता। यदि ऐसा न हो सकता होता, तो विवाहके अवसर पर गोत्रोल्लेख होनेके समय पितृगोत्रका उच्चारण नहीं क्यों न हो? क्योंकि अन्य गोत्रके पुरुषके साथ विवाह होता है इसलिये स्त्रीके गोत्रका परिवर्त्तन हो जाता है यह बात किसी भी प्रकार-से सम्भव नहीं है।

हमारा यह निर्णय केवल युक्ति मात्रके आधारपर नहीं। महर्षि कात्यायन कहते हैं।

संस्कृतायान्तु भार्यायां सपिण्डीकरणान्तिकम्।

पैतृकं भजते गोत्र मूर्ध्वन्तु पतिपैत्रिकम् ॥

(उद्वाहतत्वधृत)

विवाह संस्कार होनेपर स्त्री सपिण्डीकरण होने तक पितृगोत्र में रहती है, और सपिण्डीकरणके बाद श्वशुर गोत्रकी हो जाती है।

देखिये, इस वचनमें स्पष्ट दिखलाया गया है कि स्त्री सपिण्डीकरण तक पितृगोत्रकी रहती है, यदि उस समय तक वह पितृगोत्रकी रही तो जीते समय पुनर्विवाहके समय पितृ गोत्रके नाम लेनेके सिवाय और क्या सम्भव हो सकता है। स्त्री सपिण्डीकरणके बाद पतिके गोत्रकी हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि विना सगोत्र हुए पिण्डका एकीभाव नहीं होता। यदि स्त्रीपतिके सगोत्र नहीं हो जाय तो पिण्डका एकीभाव हो नहीं सकता। इस कारण शास्त्रकार लोग पिण्डसमन्वयके समय स्त्रीको भी पतिके गोत्रका हुआ मान भर लेते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सपिण्डीकरण हो जानेपर स्त्रीका वंश अथवा वंशके आदिपुरुष गोत्रभरका भी परिवर्त्तन हो जाताहै। कदाचित् शास्त्र कार को भी यह अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि विवाहके पूर्व या विवाहके बाद स्त्री का जो वंश था या जो वंशके आदिपुरुष थे सपिण्डीकरणसे उनका परिवर्त्तन किस प्रकार हो सकता है। यदि कहें कि

स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे ।

पतिगोत्रेण कर्त्तव्या तस्मात् पिण्डोदकक्रिया ॥

विवाह विधिके एक अङ्ग सप्तपदी गमन होजाने पर स्त्री पितृ गोत्रसे भ्रष्ट हो जाती है उसका श्राद्ध और तर्पण पतिगोत्रका नाम लेकर किया जाना चाहिये और,

पाणीग्रहणिका मन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः ।
भर्तुर्गोत्रेण नारीणां देयं पिण्डोदकं ततः ॥

पाणिग्रहणके मन्त्रोंसे स्त्री पितृगोत्रसे मुक्त हो जाती है। उसका श्राद्ध और तर्पण भी पतिगोत्रका उच्चारण करके ही करना चाहिये।

इन दोनो वचनोंमें जब सप्तपदी या पाणिग्रहणसे स्त्रीका पितृ-गोत्रसे भ्रंष्ट होना लिखा है तब द्वितीयवार विवाहके अवसर पर पितृगोत्रका उच्चारण किस प्रकार हो सकता है। यह आशंका भी तर्क संगत नहीं है। कात्यायनके वचनमें जब स्पष्ट रूपसे लिखा है कि स्त्री सपिण्डीकरणके पूर्व तक ही पितृगोत्रकी रहती है तब सप्तपदी या पाणिग्रहण होनेसे स्त्रीका पितृगोत्र चला जाता है यह बात कभी भी संगत नहीं हो सकती। तब हारीत और बृहस्पतिके वचनोंका तात्पर्य यही है कि सप्तपदीगमन और पाणि ग्रहण से स्त्री पितृगोत्रसे च्युत हो जाती है अर्थात् पितृकुलके साथके सम्बन्धसे रहित हो कर पतिकुलमें आ जाती है। विवाह के पूर्व पितृकुलके साथ अशौच आदि पालन करनेका जो सम्बन्ध है विवाहके बाद पितृकुलसे वह सम्वन्ध नहीं रहता। पितृगोत्रसे भ्रष्ट होनेका तात्पर्य यही है। विवाहसे स्त्रीके वंश या वंशके आदिपुरुषका परिवर्त्तन हो जाता है ऐसा तात्पर्य तो कभी हो नहीं सकता। क्योंकि पहले जैसा दिखाया गया है तदनुसार वंश या वंशके आदिपुरुषका परिवर्त्तन किसी प्रकार भी हो नहीं सकता।

हारीत और बृहस्पतिके वचनके उत्तरार्ध भागमें पिण्डोदकदान के अवसर पर पतिगोत्रोल्लेखकी विधि है उससे इस तात्पर्य व्याख्या की खुब पुष्टि होती है। क्योंकि यदि उनके वचनोंके

पूर्वार्ध भागमें यह बात होती कि स्त्री विवाहके बादही पतिगोत्र भागिनी होती है तो उत्तरार्धमें पिण्डोदकदानके समय पतिगोत्रके उल्लेखके स्वतन्त्र विधान करनेकी क्या आवश्यकता थी। क्यों कि इस विधानके विना किये ही विवाहके बाद पति गोत्रकी हो जानेके विधान द्वारा ही पिण्डोदक दानके समय पतिगोत्रका उच्चारण भी स्वतः सिद्ध है। अतएव जब दोनोंका अपने अपने वचनके उत्तरभागमें पिण्डोदक दानके अवसरमें पतिगोत्रके उच्चारण करनेका विधान किया है और कात्यायनके वचनमें सपिण्डीकरण तक ही स्त्रीका पितृगोत्रमें रहनेका स्पष्ट विधान है तब विवाहके बादके क्षणमें ही स्त्री पतिगोत्रकी ही जाती है यह दोनोंके वचनोंके पूर्वार्धका ऐसा तात्पर्य कभी नहीं हो सकता। वस्तुतः, हारीत और बृहस्पतिके वचनोंके उत्तरार्धभागोंका ठीक ठीक अर्थ यह है कि पिण्डोदक दानके समयसे स्त्री पतिके गोत्रकी हो जाती हैं। और पूर्व दिखलाये प्रकारसे जब स्त्रीके आदिपुरुष अर्थात् गोत्रका परिवर्त्तन असम्भव होता है और जब पिण्डसमन्वयको ध्यानमें रखकर सपिण्डीकरणके समय ही स्त्रीको पतिगोत्रकी मानने की आवश्यकता दिखाई देती हैं और सामान्य पिण्डोदक दानके समय स्त्रीके पतिगोत्र की होनेकी कल्पना की उस प्रकारकी अवश्यकता नहीं दीखती तब हारीत और बृहस्पतिके वचनोंमे आये पिण्डोदक शब्द पिण्डीकरणके बोधक है इसमें संदेह नहीं है। इस पिण्डोदक शब्दका सपिण्डी करण अर्थ करने पर ही कात्यायनके वचनके साथ एकवाक्यता भी हो जाती है। और युक्तिके भी अनुकूल हो जाती है। और विवाह योग्य कन्या निर्णय करनेके अवसरपर पिता और माताके गोत्र की कन्याको वर्जन कर देनेका विधान है। किन्तु विवाह हो जानेपर माताका पतिगोत्र हो जाता है इस कारण पितृगोत्रकी

कन्याका वर्जन हो जानेसे ही मातृगोत्रकी कन्याका भी वर्जन हो ही जाता है फिर मातृगोत्रकी कन्याका स्वतन्त्र रूपसे वर्जन कर देना सर्वथा निष्प्रयोजन हो जाता है। यह आशंका उठाकर किन्ही किन्ही ग्रन्थकारोंने मातृगोत्रकी कन्याको वर्जन करनेके वचनमें मातृ शब्दका अर्थ मातामह (नानी) किया है इस प्रकारकी जो क्लिष्ट कल्पना की गयी है उसका भी हमारे लिखे प्रकारसे निवारण हो जाता है।

अब यही आपत्ति उपस्थित हो सकती है कि यदि स्त्री सपिण्ड करण तक पितृ गोत्रमें रहतो है तो विवाहिता स्त्री जीवित दशा में जब व्रतादि करती है तो पति गोत्रका उच्चारण क्यों किया जाता है।

स्त्री व्रत आदिके समय पति गोत्रको कहती है ठीक है। किन्तु व्रतादिके अवसर पर गोत्रोल्लेखका कोई शास्त्रीय विधान दृष्टि गोचर नहीं होता श्राद्ध आदिके अवसर पर गोत्र उच्चारण करने का विधान है यह देखकर हो लोगोंने व्रत आदिके अवसर पर गोत्र उच्चारण करना प्रारम्भ कर दिया।*

फलतः व्रतादिके अवसरपर गोत्रका उच्चारण करना केवल लोकाचारके आधार पर है। जिस प्रकार आगे दिखाया जा चुका है कि स्त्री सप्तपदी तक पिताके गोत्रमें रहती है इस लिये

---

* श्राद्धादौ फलभागिनां गोत्राद्युल्लेखदर्शनात् तदितरत्रापि तथोल्लेखाचारः। (उद्वाहतत्व)

श्राद्धादिके अवसर पर फलभागियोंके लिये गोत्रादिके उच्चारणका विधान देखकर उससे अतिरिक्त अवसरोंमेंभी गोत्रादिके उच्चारण करनेकी चाल हो गयी है।

व्रतादिमें यदि गोत्रका उच्चारण किया जाता है तो ऐसे अवसरोंमें पितृ गोत्रका उच्चारण ही करना चाहिये। किन्तु विवाहसे स्त्री पितृ गोत्रसे निकल कर पति गोत्रमें आजाती है। पूर्वोक्त हारित और बृहस्पति के वचनोंके यही अर्थ करके पतिके गोत्रका उच्चारणन करने की ही चाल चल गयी है। यदि कहा जाय कि इतने दिनतक स्त्रियोंने जो पतिके गोत्रका उच्चारणकर व्रत आदि किया है वह क्या निष्फल होजायगा। विवेचना करके देखा जाय तो यह आशंका हो नहीं सकती। क्योंकि जब शास्त्रोंमें व्रतादिके अवसरपर गोत्र उच्चारण करनेकी आवश्यकता ही नहीं बतलाई इस लिये यदि गोत्रका उच्चारण न भी किया जाय तो कोई हानि नहीं होसकती। तब पति गोत्रको करने पर भी व्रतादिके निष्फल होनेको आशंका किस प्रकार हो सकती है। यदि गोत्रका उच्चारण करना व्रतका अङ्ग कहा होता तो उस स्थानपर गोत्रोल्लेखन करने पर निष्फल होनेकी सम्भावना हो सकती थी।

जो पहले कहा जा चुका है उससे यह विशेषरूपसे सिद्ध होता है कि स्त्री सपिण्डीकरण तक ही पितृ गोत्रमें रहती है। सपिण्डी करणके अवसर पर पिण्ड समन्वयके आधार पर स्त्री को पतिके गोत्रकी होजानेकी कल्पना की जाती है। फलतः द्वितीय विवाहके अवसरपर पिताका गोत्र ही उच्चारण करना होगा किन्तु स्मार्त्त भट्टाचार्य्य रघुनन्दने देशाचारके वश हो कर कात्यायनके स्पष्ट वचनकी उपेक्षा कर हारीत और बृहस्पतिके अस्पष्ट वचन का आशय लेकर व्यवस्था की है कि स्त्री विवाहके ठीक बादही पतिके गोत्रकी हो जाती है।*

*तदानीं गोत्रापहारमाह हारीतः

यदि इसी व्यवस्था पर निर्णय करके विवाहके ठीक बाद पतिगोत्र हो जाना मान लें तोभी द्वितीयवार विवाहके अवसर पर भी पिताका गोत्र उच्चारण करके दान करना चाहिये इस व्यवस्थाका कोई बाधक नहीं हो सकता क्योंकि पहले दिखा दिया गया है कि विवाहके अवसरपर गोत्रका उच्चारण करनेका प्रयोजन यही है कि स्त्री किस वंशमें उत्पन्न हुई है इस बातका परिचय दिया जाय। विवाहके बाद स्त्री पति गोत्र की जाती है यह मान कर सम्प्रदानके अवसर पर पति गोत्रका उच्चारण करनेसे वह अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। फलत: पितृ गोत्रका नाम उचारण करनाही सब प्रकारसे ठीक प्रतीत होता है। यह निर्णय केवल हमारा कपोल कल्पित नहीं बल्कि शास्त्रमें भी स्पष्ट प्रमाण पाया जाता है—जैसे

अमुष्य पौत्रींञ्चामुष्य पुत्रीञ्चामुष्य गोत्रजाम्।
इमां कन्यां वरायास्मै वयं तद्विवृणीमहे।
शृणुध्वमिति वैब्रूयाद सौ कन्याप्रदायकः॥

(वृहद्वसिष्ठ संहिता चतुर्थ अध्याय)

सभामें उपस्थित समस्त पुरुषोंके समक्ष कन्याका दाता कहता है कि "आप लोग सुनिये अमुककी पोती अमुककी पुत्री, अमुक गोत्रमें उत्पन्न हुई इस कन्याको हम इस वरके हाथ दान करते हैं।

स्वगोत्राद् भ्रष्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे।
पतिगोत्रेण कर्त्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रियाः॥

पाणि ग्रहणादपि पितृ गोत्रापहारमाह श्राध विवेके वृहस्पतिः।

देखिये इस स्थान पर स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि हम अमुक गोत्रमें उत्पन्न हुई कन्याको दान करते, हैं, अर्थात् कन्या जिस गोत्रमें उत्पन्न हुई है विवाहके समय उसी गोत्रका उच्चारण किया जाता है यदि अमुक गोत्रमें पैदा हुई (अमुक गोत्रजा) न हो कर ' अमुक गोत्र वती ' ऐसा गोल मोल सा अस्पष्ट रूप कहा होता तो स्त्री विवाहके उपरान्त पितृ गोत्रसे रहित हो कर पतिगोत्रको हो जाती हैं इस लिये द्वितीयवार विवाहके अवसर पर पतिके गोत्रका उल्लेख करना चाहिये यह किसी प्रकार संगत होजासकता , किन्तु जब पूर्व निर्दिष्ट वशिष्ठके वचनमें स्पष्ट रूपमें कहा है कि जिस गोत्रमें उत्पन्न हुई उसी गोत्रका उच्चारण करके सभामें आये समस्त जनोंके परिचय देकर कन्या दान किया जाय तब सम्प्रदानके अवसरपर पितृगोत्र परित्याग कर के पति गोत्रका उच्चारण किसी प्रकार से भी किया नहीं जा सकता ।

पाणिग्रहणिका मन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः ।
भर्त्तुर्गोत्रेण नारीणां देयं पिण्डोदकं ततः ॥

यत्तु सपिण्डनस्य गोत्रापहारित्वप्रतिपादक वचनम्

संस्कृतायांतु भार्य्यायां सपिण्डीकरणादिकम् ।
पैतृकं भजते गोत्रा मूर्द्ध्वं तु पतिपैतृकम् ॥

कात्यायनीयं तत् शाखान्तरीयं शिष्टव्यवहाराभावात् । अतएवा नुमन्त्रिना गुरुं गोत्रेणाभिवादयेतेति गोभिलोक्तं यत् सप्तपदीगमनान्तरं

बाईसवां परिच्छेद।

प्रथम विवाहके मन्त्र ही द्वितीय विवाहके मन्त्र हैं

बहुतसे लोगोंने यह आपत्ति की है कि स्त्रियोंके द्वितीयवार विवाहके मन्त्र नहीं। यह आपत्ति नितान्त निराधार है। क्योंकि विवाहके मन्त्रोंमेकोई ऐसी बात नहीं कि ये मन्त्र द्वितीयवारके विवाहके अवसर पर लग न सकें। फलतः जितने वैदिक मन्त्रों से पहला विवाह किया जाता है द्वितीयवारका विवाह भी उन्हीं मन्त्रोंसे किया जाना चाहिये।

पत्युरभिवादनं तत पतिगोत्रेण कर्त्तव्यमिति भट्टनारायणै रुक्तम्।
एतेन पितृगोत्रेणेति सरलभवदेवभट्टाभ्यामुक्तं हेयम्। उद्वाहतत्व।

लघुहारीतने कहा है कि विवाहका अङ्ग सप्त पदी हो जानेपर नारी पितृ गोत्रसे भ्रष्ट हो जाती है। उसका पिण्डोदक दान पति गोत्रका उच्चारण करके करना चाहिये। श्राद्ध बिवेकमे उद्धृत वृहस्पतिका वचन है कि पाणि ग्रहणके मन्त्रोंसे स्त्री पितृ गोत्रसे रहित होजाती है उसका पिण्डोदक दान पति गोत्रका उच्चारणके करना चाहिये इस स्थान पर वृहस्पतिने पाणि ग्रहण द्वाराही गोत्र टूठ जाता है ऐसा कहा है, और कात्यायनने स्त्रीके विवाह संस्कार हो जाने पर सपिण्डी करण तक पति गोत्र रहता है। वादमें पति गोत्रकी हो जाती है, यह कह कर जो सपिण्डीकरणको गोत्र छूट जानेका कारण कहा है वह अन्यशाखा वालोंके लिये है। क्योंकि ऐसा शिष्टाचार नहीं है। इस लिये गोभिल सूत्रमें सप्तपदी गमनके बाद पतिको प्रणाम करनेके समयमें जो गोत्रका उच्चारण करनेका विधान है, भट्ट नारायणने इस गोत्र शब्दका पतिका गोत्र अर्थ माना है, फलतः सरल और भव देव भट्ट दोनोंने इस गोत्र शब्दका अर्थ पित गोत्र किया है वह ग्रहण करने योग्य नहीं है

यह पहलेही निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि मनु, विष्णु याज्ञवल्क्य, नारद और कात्यायनने विशेष २ अवसरोंमें स्त्रियों को पुनः विवाहकी अनुमति दी है। इन सब महर्षियोंने पुनः विवाहका जिस प्रकार विधान किया है उस प्रकार भिन्न मन्त्रों का निर्देश नहीं किया है।

अब प्रथम विवाहके मन्त्र यदि दूसरीवारके विवाहमें न लगे तो ऋषियोंको वैसे विवाहकी अनुमति देना भी उन्मत्त प्रलापके समान हो जाय। क्योंकि स्त्री पुरुषका सहयोग विधानके अनुसार मन्त्रों द्वारा सम्पादित न किया जाय तो उसको विवाह शब्दसे न कहा जाय। स्त्री पुरुषके यथेच्छ विना विधिके परस्पर संसर्गको विवाह संस्कार नहीं कहा जाता। यदि स्त्रियोंका पुनः विवाह ऐसे ही मन माना संसर्ग मात्र होता तो ऋषिगण संस्कार शब्दसे उसका उल्लेख न करते।

मनु कहते हैं—

याप्तया वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥
साचेदक्षतयोनिः स्याद गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कार मर्हति॥

जिस स्त्रीको पतिने छोड़ दिया है या विधवा हो कर अपनी इच्छासे 'पुनर्भू' हो गयी है अर्थात् पुनः अन्य पुरुषसे विवाह कर लिया है उसके गर्भमें जो पुत्र उत्पन्न होता है उस को पौनर्भव कहते हैं। यदि वह स्त्री अक्षत योनि या गत प्रत्यागता है अर्थात् पतिको छोड़ कर अन्य पुरुषका आश्रय करके पुनः गृहमें आगयी है उसका पुनः संस्कार हो सकता है, वशिष्ठ कहते हैं—

पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रासंस्कृता ।

साचेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कार मर्हति ॥ अ० १७ ॥

पतिकी मृत्यु हो जायतो अक्षतयोनि स्त्री का पुनः विवाह संस्कार हो सकता है।

विष्णु कहते हैं कि—

अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः ॥ १५ अ० ॥

जिस अक्षतयोनि स्त्रीका पुनः विवाह संस्कार होता है उसको पुनर्भू कहते हैं।

याज्ञवल्क्य कहते हैं

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ॥

क्या अक्षत योनि, क्या क्षातयोनि, जिस स्त्रीका भी पुनः विवाह संस्कार होता है उसको पुनर्भू कहते हैं।

इस लिये जब मनु, विष्णु, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंने विशेष २ अवसर पर पुनर्विवाह की अनुमति दी है और जब वे इस विवाहको भी पृथक विवाह के समान ही संस्कार नामसे कहते हैं और जब मन्त्र ही विधि रहित स्त्री पुरुषोंके परस्पर संसर्गको संस्कार नहीं कहा जाता, जब ऋषियोंने द्वितीय-वारके विवाहके लिये भिन्न मन्त्रोंका निर्देश भी नहीं किया और जब प्रथम विवाहके मन्त्रोंमें इस प्रकार की बात नहीं जो द्वितीय-वारके विवाहमें न लग सके तब प्रथम विवाहके मन्त्र ही इस द्वितीयवारके भी विवाह मन्त्र हैं इसमें अणुमात्र भी संशय नहीं हो सकता।

कोई कोई महाशय कहते हैं—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।

ना कन्यासुकचिन्नृणां लुप्तधर्म क्रिया हिताः ॥ ९।२९ ॥

विवाहके मन्त्र कन्याओंके लिये ही प्रयुक्त होते हैं, जो कन्या नहीं उनके लिये ये मन्त्र नहीं हैं क्योंकि उनका धर्मक्रियाओंमें अधिकार नष्ट हो गया है।

मनुके इस वचनका आशय लेकर कहते हैं कि कुमारी कन्याके विवाहके मन्त्र विधवा विवाहमें नहीं लगते। इस विषयमें हमारा यह कहना है कि मनुमें जो 'अकन्या' शब्द है उसका अर्थ विधवा नहीं है विवाहके पूर्व जिस कुमारी कन्याका संसर्ग हो जाता है उस 'अकन्या' के विवाहमें मन्त्रोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि नाजायज़ पुरुषके संसर्गसे उसका धर्मक्रियाओंका अधिकार लोप हो गया है। यदि अकन्या शब्दका अर्थ विधवा हो और इस कारण उसका धर्म क्रियाओंका अधिकार नष्ट हो गया होता तो इस बातका सम्बन्ध किस प्रकार जुड़ता। क्योंकि यह तो कोई भी मान नहीं सकता कि विधवा होजाने पर स्त्रियोंका धर्म कार्यों में अधिकार लोप हो जाता है। इस लिये जब मनुके वचनमें लिखा है कि जिस कारणसे धर्म कार्योंमें अधिकार नष्ट हो जाता है इस कारण अकन्याओंके लिये विवाह मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता, तब मनुके वचनमें 'अकन्या' शब्द विधवाका वाचक नहीं इसमें कोई सन्देह नहीं। विधवाओंके धर्म कार्योंमें अधिकार लोप हो जानेकी बात तो दूर रही, बल्कि जो विधवाएं विवाह न करके ब्रह्मचर्य पालन करती हैं उनके लिये तो केवल धर्मकार्योंका अनुष्ठान करके ही जीवन बिता देनेका विधान है।

तेईसवां परिच्छेद

विवाहित स्त्रियोंका पुनः विवाह भी विवाहित पुरुषोंके पुनः विवाहके समानही प्रशंसनीयनहीं है

यहां यही विवेचना करनी आवश्यक है कि

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहन ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसम् ॥

(याज्ञवल्क्य संहिता १॥ ५२ ॥)

ब्रह्मचर्य पालन कर उक्त लक्षणोंसे युक्त अविवाहित, मनोहर असपिण्ड, आयुमें छोटी, स्त्रीसे विवाह करे।

इत्यादि वचनमें अविवाहिता कन्याके साथ विवाह करनेका विधान है। इस विधानसे यही सिद्ध होता है कि विवाहिता कन्याका विवाह न किया जाय और इसके प्रतिकूल एकबार जिस स्त्रीका विवाह हो जाय उस स्त्रीका पुन: विवाह निषिद्ध है। यदि निषिद्ध है तो उसको प्रचलित करना किस प्रकार उचित हो सकता है। इस विषयमें निर्णय करते हुए पूर्वापर सब देखना आवश्यक है। विवाह योग्य कन्याको निर्णय करते हुए कन्याका विशेषण "अविवाहिता" क्यों है ? विवाहिता कन्याका तो कभी विवाह होगा नहीं। इस विशेषणकी इस प्रकार व्याख्या कभी नहीं की जा सकती। क्योंकि मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु वशिष्ठ, पराशर, आदि संहिता कारोंने अपनी अपनी संहिताओंमें विवाहि-

ता स्त्रियोंके द्वितीयवार विवाहकी आज्ञा दी है। पूर्वोक्त 'अविवाहिता' विशेषणके पूर्व लिखे अर्थको ही मानकर विवाहिताके विवाहको सर्वथा निषिद्ध मान लिया जाय तो संहिताकारोंका विवाहिता स्त्रियोंको पुनः विवाह की आज्ञा देना नितान्त असम्बद्ध और उन्मत्त प्रलापके समान हो जायगा। अर्थात् विवाह योग्य कन्याके स्वरूपका वर्णन करते हुए 'अविवाहिता' विशेषण का ठीक-ठीक अर्थ यही हैं कि अविवाहिता कन्यासे विवाह करना उत्तम है और विवाहिता कन्यासे विवाह करना उत्तम नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी जिसने प्रथम कभी स्त्रीका ग्रहण नहीं किया उसके हाथ कन्याका दान करना उत्तम है और जिसने पहले भी स्त्रीका ग्रहण किया हो उसके हाथ कन्या दान करना उत्तम नहीं, ऊपर लिखे याज्ञवल्क्य वचनमें जिस प्रकार अविवाहिता कन्यासे विवाह करनेका विधान है उसी प्रकार—

श्रुतशीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने देया।

(याज्ञवल्क्य दीप कलिका और उद्वाहतत्वधृत बोधायन वचन)

वेदोंके विद्वान, शीलवान्, ज्ञानवान ब्रह्मचारी प्रार्थीको पुरुष के हाथ कन्या दान करे।

इस बोधायन वचनमें ब्रह्मचारीको कन्यादान करनेका विधान हैं उसके अनुसार जो ब्रह्मचारी नहीं उसके हाथ कन्या दान करनेको सर्वथा निषिद्ध कहा नहीं जा सकता। क्योंकि स्त्रीके मर जानेपर या वन्ध्या आदि दोष युक्त होनेपर शास्त्रमें पुनः विवाह करनेका विधान है। यही दोनों विधानोंके अविरोध करनेके लिये जिस प्रकार उत्तम और निकृष्ट ये दो विभाग करके निर्णय करना होगा उसी प्रकार अविवाहिता और विवाहिता स्त्रीके विवाहोंमें भी उत्तम और निकृष्ट ये दो विभाग करके निर्णय करना होगा।

वस्तुतः विवाहिता पुरुषका विवाह करना जिस प्रकार निकृष्ट है विवाहित स्त्रीका विवाह करना भी उसी प्रकार निकृष्ट है। इन दोनों विभागोंके बीचमें कोई और विभाग नहीं है।

ब्रह्मचारीके हाथ कन्यादान करना उत्तम हैं, और विवाहितके हाथ कन्याका करना निकृष्ट है, स्मार्त्त भट्टाचार्य रघुनन्दनने भी इसी प्रकार निर्णय किया है।

बोधायनः, श्रुतशीलिने विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने देया। ब्रह्मचारिणेऽजात स्त्री सम्पर्कस्येति कल्पतरु याज्ञवल्क्य दीपकालिके। जात स्त्री सम्पर्कस्य विवाहे विवाहाष्टक वहिर्भावापत्तेस्तदुपादानं प्राशस्त्यार्थ मिति तत्वम्।

(उद्वाहतत्व)

बोधायनने कहा हैं कि वेदज्ञ, शीलवान, ज्ञानवान, ब्रह्मचारी प्रार्थीके हाथ कन्या दान करे, इस वचनके अनुसार केवल ब्रह्मचारी पुरुषके हाथ कन्या दान किया जाता है और जिसने पहले विवाह कर लिया हो उसका दूसरा विवाह ब्राह्म आदि आठों विवाहोंके भीतर नहीं हैं इसलिये बोधायनने 'ब्रह्मचारी' इस विशेषणसे यही स्पष्ट दिखलाया है कि ब्रह्मचारीको ही कन्या दान करना उत्तम कोटिका है।

फलतः कुछ और विचार कर देखें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि शास्त्रकारोंने इस सब विषयमें एक ही प्रकारके नियमोंका निर्धारण किया है। देखिये, प्रथम वैवाहिक सम्बन्धके प्रारम्भमें कन्याके जिस प्रकार कुल शील आदिकी परीक्षा की आवश्यकता विधान की है। वरकी भी उसी प्रकार कुलशील आदिकी परी-

ता की आवश्यकता बतलाई है ।* विवाहके बाद पतिको सन्तुष्ट रखना स्त्रीके लिये जिस प्रकार आवश्यक बतलाया है स्त्रीको सन्तुष्ट रखना भी पुरुषके लिये उसी प्रकार आवश्यक बतलाया है *१ । स्त्री यदि अन्य पुरुषके पास जाय तो उसके लिये यह बड़ा भारी पाप कहा गया है, पुरुष यदि अन्य स्त्रीके पास जाय उसके लिये भी यह भारी पातक कहा है ।*२ स्त्रीके मरनेपर या वन्ध्या

*अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीप सीम् ॥ १।५२ ॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीं मसमानार्ष्यगोत्रजाम् ।
पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ १।५३ ॥
दशपूरुषविख्यातान् श्रोत्रियाणां महाकुलात् ।
स्फीतादपि नसंचारि रोग दोष समन्विताम् ॥ १।५४ ॥
एतेरेवगुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।
यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः ॥ १।५५ ॥

(याज्ञवल्क्य संहिता)

ब्रह्मचर्य पालन करके सुलक्षणा, अविवाहिता, मनोहारिणी, असपिण्डा आयुमे अपनेसे कम, असाध्य रोगसे रहित, भ्रातृ मती, विभिन्न प्रवरवाली, विभिन्न गोत्रवाली मातृपक्षसे पांच पीढ़ियाँ परे और पितृ पक्षसे सात पीढ़ि-योंपरेकी, स्त्रीसे विवाह करे। जो प्रधान वंश दश पीढ़ियोंतक विख्यात, नित्यवेदाध्यायी, और धनधान्यादि सम्पन्न होकर भी संक्रामक रोगसे ग्रस्त और दोषोंसे युक्त होतो उस वंशकी कन्यासे विवाह न करे। वर भी समस्त लक्षणोंसे युक्त हो सजातीय और नित्य वेदाध्याय होना आवश्यक है। और भी विशेष बात यह कि वर पुरुषत्वसे युक्त है कि नहीं इस बातकी यत्नपूर्वक परीक्षा करना आवश्यक है। और वर युवा बुद्धिमान, और लोक प्रिय होना आवश्यक है।

आदि निश्चयरूपसे पता लगनेपर पुरुषके लिये जिस प्रकार पुनः विवाहके करनेकी आज्ञा है; पुरुषके मरनेपर या नपुंसक आदि पता लगनेपर स्त्रीके लिये उसी प्रकार पुनः विवाह करनेकी आज्ञा है। जिसने पूर्व विवाह कर लिया हो उसके साथ विवाह करना स्त्रीके लिये जिस प्रकार निकृष्ट है। विवाहिता स्त्रीको विवाह करना पुरुषके लिये भी उसी प्रकार निकृष्ट है। फलतः शास्त्रकारोंने इस विषयमें स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये समान व्यवस्था की है। किन्तु दौर्भाग्यसे पुरुष जातिके इस ओर ध्यान

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैध्रवम् ॥
मनुसंहिता।

* १ जिस कुलमें स्त्री निरन्तर पतिको सन्तुष्ट रखती है और पति निरन्तर स्त्रीको सन्तुष्ट रखता है उसी कुलका निरन्तर मंगल होता है।

यत्रानुकूल्यं दम्पत्यो स्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते।

* २ जिस कुलमें स्त्री और पुरुष परस्पर सद्व्यवहार करते हैं उस कुलमें धर्म अर्थ और भोगकी वृद्धि होती है।

व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्याः अद्यप्रभृति पातकम्।
भ्रूण हत्या समं घोरं भविष्यत्य सुखावहम् ॥
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम्।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥ महाभारत ॥

इसके बाद जो नारी पतिको उल्लंघन करेगी, उसको भ्रूण हत्याके समान दुःख जनक घोर पातक होगा। और जो पुरुष बालकपनसे साध्वी ब्रह्मचारीणी पतिव्रता पत्नीका उल्लंघन करेगा। उसको भी इस दुनियामें बड़ो पाप होगा।

न रहनेके कारण स्त्री जाति नितान्त निराधकार हो गयी है। भारतवर्षमें अब स्त्रियोंकी दुरवस्था देखकर हृदय फटा जाता है। स्त्रियोंको आदर सम्मान और सुख पूर्वक रखनेकी प्रथा प्रायः नष्ट हो गयीं है। शनैः २ अब यहांतक हो गया है अनेकानेक विद्वान् लोग स्त्री जातिको सुख पूर्वक और स्वच्छन्द रखना भी मूढ़ताका लक्षण बतलाते हैं। विशेष रूपसे आलोचना करके देखें तो अब स्त्रियोंकी अवस्था साधारण दास दासियोंकी दशासे भी बुरी हो गयी है।

मनुने कहा है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ३।५५ ॥
यत्रै नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता. ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः: ॥ ३।५६ ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ३।५७ ॥
जामयो यानिगेहानि शपन्त्य प्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ३।५८ ॥

जो पिता, भाई, पति. देवर, आदि अपना मङ्गल चाहते हैं उनको चाहिये कि वे स्त्रियोंको खूब आदरसे रखें और उनको वस्त्रों और आभूषणोंसे भूषित करें ॥ ५५ ॥ जिन परिवारोंमें स्त्रियोंका आदर होता है उन परिवारोंमें देवलोग प्रसन्न रहते हैं और जिन परिवारोंमें :स्त्रियोंका आदर नहीं वहां यज्ञदान आदि सब काम विफल होते हैं ॥ ५६ ॥ जिन परिवारोंमें स्त्रियां

मनमें दुःख पातीं, रोती बिलपती हैं वह परिवार विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। और जिन परिवारोंमें स्त्रियाँ रोती बिलपती और मनमें दुःखी नहीं होती उन परिवारोंके निरन्तर सुख समृद्धि होती है ॥ ५७ ॥ स्त्रियाँ अनादरको प्राप्त होकर जिन परिवारों को शाप दे देती हैं वे अभिचारसे ग्रस्त परिवारके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

अनुसन्धान करके देखें तो यहां स्त्रियोंके प्रति जिस प्रकार का व्यवहार करनेका आदेश है अबके पुरुष लोग इस प्रकारका व्यवहार उनके प्रति नहीं करते। और इस प्रकारका व्यवहार न करनेसे जो विषम दुःखदायी परिणाम भोगने बतलाये हैं वे सब प्रायः सर्वत्र प्रत्यक्ष देखे जा रहे हैं।



चौबीसवां परिच्छेद।

देशाचार

शास्त्रकी अपेक्षा प्रबल प्रमाण नहीं है।

प्रतिवादी महाशयोंने जितने शास्त्र प्रमाण दिखला-दिखला कर विधवा-विवाह शास्त्र अनुकूलता को खण्डन करनेका प्रयत्न किया था उन सब शास्त्रोंके प्रमाणोंका यथार्थ अर्थ और ठीक ठीक तात्पर्य यहां यथाशक्ति दिखाया गया है। अब विधवा विवाह को प्रचलित करनेके विषयमें उनकी एक आशंका है उस आशंकाकी भी यथाशक्ति आलोचना करना आवश्यक है।

प्रतिवादी महाशय कहते हैं कि विधवा विवाह यद्यपि शास्त्र सम्मत है तथापि देशाचारके विपरीत होनेके कारण उसका प्रचलित होना उचित नहीं है। कलियुगमें विधवा विवाह स्थिर हो जाने पर भी देशाचार के विपरीत होनेकी आपत्ति उठाई जा सकती है। यही आशंका उठाकर मैने अपने प्रथम पुस्तकमें प्रमाण दिखलाकर यह सिद्धान्त किया था कि शास्त्रका विधान होने पर ही देशाचारको प्रमाण माना जाना चाहिये।

प्रथम पुस्तकमें मैने एक वचन दिखलाकर देशाचारको शास्त्र की अपेक्षा दुर्बल प्रमाण बतलाया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उससे भी प्रतिवादी महाशय सन्तुष्ट नहीं हुए। इसलिए इस विषयमें दूसरा प्रमाण दिखलाया जाता है।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

द्वितीयं धर्म शास्त्रं तु तृतीयं लोक संग्रहः॥

(महाभारत अनुशासन पर्व)

जो लोग धर्मको जानने की इच्छा करते हैं उनके लिये वेदही सर्व प्रधान प्रमाण है दूसरे नम्बर पर धर्मशास्त्र और तिसरे नम्बर पर लोकाचार प्रमाण है।

यहां देशाचार सबसे अधिक दुर्बल प्रमाण बतलाया गया है। वेद और स्मृति देशाचारकी अपेक्षा प्रबल प्रमाण हैं। इसलिये देशाचारके आधारपर उसकी अपेक्षा अधिक प्रबल प्रमाण रूप स्मृतियों की व्यवस्थामें अनास्था दिखलाना युक्तिसंगत नहीं हो सकती।

न यत् साक्षा द्विधयो न निषेधाः श्रुतौ स्मृतौ।

देशाचार कुलाचारै स्तत् धर्मो निरूप्यते॥ स्कन्दपुराण॥

जहां वेदमें अथवा स्मृतिमें स्पष्ट विधान अथवा स्पष्ट निषेध नहीं रहता, उस स्थानमें देशाचार और कुलाचारके अनुसार धर्म निरूपण किया जाता है। देखिये, यहां स्पष्टरूपमें बतलाया है कि जिस स्थानमें शास्त्रका विधान अथवा निषेध नहीं है उसमें देशाचार प्रमाण है, सुतरां देशाचार देखकर शास्त्रके विधानमें अश्रद्धा दिखलाना सर्वथा न्यायविरुद्ध है।

स्मृतेर्वेदविरोधे तु परित्यागो यथा भवेत्।

तथैव लौकिकं वाक्यं स्मृतिबाधे परित्यजेत॥

(प्रयोग पारिजात धृत स्मृति)

वेदके साथ जहां विरोध पड़े, तो जिस प्रकार स्मृति प्रमाण

योग्य नहीं उसी प्रकार स्मृतिके विरोध होनेपर देशाचार ग्रहण करने योग्य नहीं होगा।

इसस्थानपर स्पष्ट विधान है स्मृतिका और देशाचारका परस्पर विरोध उपस्थित हो तो देशाचार ही अग्राह्य होगा। अतएव जब स्मृति शास्त्रमें कलियुगमें विधवा विवाहका स्पष्ट विधान है तब देशाचारके विरुद्ध होनेके कारण उसको अकर्त्तव्य कहना शास्त्रकारोंके मतसे नितान्त विपरीत है। *

* हमारे प्रत्युत्तर की पुस्तक समाप्त हो जानेपर श्रीयुत पद्मलोचन महाचार्य की उत्तर पुस्तक प्राप्त हुई। सावधान चित्तसे पुस्तक पाठ करके देखा कि अन्यान्य प्रतिवादी महोदयोंने विधवा विवाहको अशास्त्रीय बतलानेके लिये जिन जिन आपत्तियों को उठाया था न्यायरत्न महोदयकी पुस्तकमें भी उनसे अधिक कोई बात नहीं थी। इसलिये उनकी आलोचना करने के लिये भी हमें विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। न्यायरत्न महाशयकी दोही विशेष आपत्ति हैं (१) प्रथम पराशरसंहिता कलियुगका शास्त्र नहीं। (२) द्वितीय—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
नविवाहविधावुक्तं विधवावदनं पुनः।

इस मनुवचनके अनुसार विधवा विवाह वेदविरुद्ध है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमने दोनों बातोंका यथाशक्ति प्रत्युत्तर दिया है।

न्यायरत्न महाशयकी पुस्तकमें अन्यलोगोंकी प्रकाशित पुस्तकोंसे अधिक बातें नहीं है। ठीक हैं किन्तु आपने अपनी पुस्तकमें ऐसा असाधारण कौशल दर्शाया है कि जिसे देखकर आपकी बुद्धिमत्ताको विशेष प्रशंसा करनी पड़ती है। प्रतीत होता है कि विधवा विवाहके विपक्षी महाशय उनकी पुस्तक पढ़ कर खूब प्रसन्न हुए हैं। जो हो, उपर लिखे मनुवचनके अनुसार विधवा विवाह वेदविरुद्ध है यह बातही उनके समस्त कौशल का आधार है। किन्तु इस मनु वचनसे विधवा विवाह वेदविरुद्ध सिद्ध नहीं होता। इसलिये उनका साराकौशल सर्वथा निराधार हो जाता है। यदि न्यायरत्नमहाशय यथार्थ पक्षकर बुद्धिकौशल दिखाते तो उनकी प्रशंसनीय बुद्धिमत्ताको कितनी प्रशंसा होती नहीं कहा जा सकता।

पच्चीसवां परिच्छेद

उपसंहार

दौर्भाग्यके कारण जो छोटी ही उमरमें विधवा हो जाती है उनको जीवनभर जो असह्य यन्त्रणा (क्लेश) भोगनी पड़ती है और विधवा विवाहकी प्रथा प्रचलित न होनेके कारण ऐसा जान पड़ता है कि आंख कान वाले पुरुषमात्र इस बातको स्वीकार करेंगे कि व्यभिचार दोष, भ्रूणहत्याके पापका प्रवाह उत्तरोत्तर प्रबल वेगसे उमड़ता चला जा रहा है।

इसलिये हे पाठक महोदयगण! आपलोग अन्तमें कुछ क्षणोंके लिये स्थिरचित्त होकर विवेचना करें और कहें कि ऐसे अवसरपर आप देशाचारके दास होकर शास्त्रके विधानपर उपेक्षा दिखाकर विधवा विवाहको प्रचलित न करके हतभाग्य विधवाओंको यावज्जीवन असह्य वैधव्यके दुखाग्निमें जलाना, और व्यभिचार और भ्रूणहत्याके पापके स्रोतको उत्तरोत्तर बढ़ने देना क्या उचित है? या देशाचारके पीछे न चल कर शास्त्रके विधान का आश्रय लेकर विधवा विवाहकी प्रथा प्रचलित करके हतभाग विधवाओंके विधवापनके कष्टको दूरकरके व्यभिचार दोष और भ्रूणहत्याके पाप प्रवाह को दूर करना उचित है? इन दोनोंमेंसे कौनसे पक्षका आश्रय लेना, उत्तम है यह स्थिरचित्तसे विवेचना करके आपलोग ही स्वयं निर्णय करें। और आपलोग यह विवेचना करके देखें कि हमारे देशका आचार सर्वथा परिवर्त्तनके अयोग्य नहीं है। कोई भी यह नहीं मान सकता कि हमारे

देशमें आचार नहीं बदला और एकही बराबर चला आ रहा है। अनुसंधान करके देखिये कि हमारे देशका आचार परस्पर परिवर्त्तित होता गया है। पूर्वकालसे इस देशमें चारोंवर्णोंका जिस प्रकारका आचार था उसकी वर्त्तमानके आचारसे तुलना करके देखें तो भारतवर्षके वर्त्तमानके लोगोंकी हम एक नयी ही जाति प्रतीत होगी। वस्तुतः शनैः शनैः आचारमें इतना परिवर्त्तन हो गया है कि भारतवर्षके वर्त्तमानके लोग पूर्वकालके लोगोंकी सन्तान हैं यह पता लगना भी असम्भव है। और अधिक क्या कहें एक उदाहरण दिखला देनेसेही आपलोग समझ सकेंगे कि हमारे देशमें कितना परिवर्त्तन हो गया है। पूर्वकालमें शूद्रजाति ब्राह्मणोंके साथ एक आसनपर बैठ जाती तो उसका अपराध सीमाके बाहर हो जाता। अब वही शूद्र जाति ऊंचे आसनपरबैठी रहती है और ब्राह्मण सेवक नौकरके समान उसी शूद्रकी कुर्सीके नीचे बैठते हैं।* और यहभी देखा जाता है कि थोड़े ही समयमें देशाचारमें भी वह परिवर्त्तन हो गये हैं। देखिये, राजा राजवल्लभके समयसे वैद्यजातिके लोग यज्ञोपवीत धारण करने और १५ दिन का अशौच पालन करने लग गये हैं। उसके पहले वैद्यजातिकेलोग १ मास तक अशौच पालन करते और यज्ञोपवीत नहीं धारण

---

* यह आचारशास्त्र विरुद्ध है। केवल शास्त्रके न जाननेवाला शूद्र और ब्राह्मणही शास्त्रज्ञ विद्वान् प्रसिद्ध हैं वेभी बिना किसी घबराहट और अनादर रोष आदि अनुभव किये इसी आचारपर चल रहे हैं।

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्याव कर्त्तयेत्।

(मनु० ८।२८१)

यदि शूद्र ब्राह्मणके साथ एक आसनपर बैठे तो उसके कटिदेशमें (तपे लोहकी सलाखसे) दाग देकर देशसे निकाल दे अथवा उसका कटिभाग काट डाले।

करते थे। और अब भी अनेक वैद्य पूर्व आचारके अनुसार ही चलते हैं ओर जो नवीन आचारके अनुसार चलते हैं उनको हमलोग देशाचारका त्याग करनेवाला नहीं मानते। दत्तकचन्द्रिका ग्रन्थ * प्रकाशित होनेके बाद ब्राह्मणादि तीनवर्णोंके उपनयनकाल तक और शूद्रोंके विवाहकाल तक गोद लेनेपर दत्तक पुत्र माना जाता था; किन्तु उसके पूर्व सब वर्णोंमें पांच वर्षके भीतर ही भीतर गोद लेकर यदि चूड़ा करण (मुण्डन) संस्कार न किया जाता

* पाठकोंको ज्ञान करा देनेके लिये इसका भी बतला देना आवश्यक है कि यही दत्तक चन्द्रिका ग्रन्थ कुबेर नामक प्राचीन ग्रन्थकारके नामसे स्मृति चन्द्रिका नामसे स्मृतियोंका एक प्राचीन संग्रह ग्रन्थ है। वह इसी कुबेरका बनाया हुआ है। दत्तक चन्द्रिका वास्तवमें कुबेरकी रचित होनेसे अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। किन्तु वैसा है नहीं। दत्तक चन्द्रिकाको बने अभी सौ बरस भी नहीं हुए। प्रसिद्ध पण्डित रघुमणि विद्या भूषण भट्टाचार्यने इस ग्रन्थको बनाकर कुबेरके नामसे प्रचारित किया। अपने नामपर प्रकाशित न करके कुबेरके नामसे चला देना उनका प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि अपने नामसे चलानेपर दत्तक चन्द्रिकाको अबका नवीन अर्वाचीन ग्रन्थ होनेके कारण सर्वत्र उसका आदर नहीं होगा। बल्कि, कुछ एक नयी व्यवस्थाएं संकलन करनेके लिये जो परिश्रम किया गया था वह भी सफल न होता। दत्तक चन्द्रिकाके प्रारम्भमें लिखा है।

मन्वादिवाक्य विहितेषु विवादमार्गे
अष्टादशस्वपि मया स्मृति चन्द्रिकायाम्।
कल्युक्त दत्तक विधिर्न विवचितोय :
सर्व: सचात्र विततो विवृतो विशेषात्।

मैंने मनु आदिके वचनोंके अनुसार स्मृति चन्द्रिकामें अठारह विवाद पदों का निरूपण किया है। किन्तु कलियुगकी दत्तक विधिका विवेचन नहीं किया है। इस ग्रन्थमें विशेष रूपसे वह सब भी दर्शाया है। इसी प्रकार ग्रन्थकी समाप्तिपर लिखा है।

इति श्रीकुबेरकृता दत्तकचन्द्रिका समाप्ता।
कुबेरकी बनाई हुई यह दत्त चन्द्रिका समाप्त हो गयी।

तो दत्तकपुत्र नहीं माना जाता था। यह सब देशाचार भी शास्त्र मूलकही बराबर चला आ रहा था। बादमें अन्यशास्त्र अथवा शास्त्रकी अन्य व्याख्या प्रकट होते हा उनमें परिवर्त्तन आते ही नया आचार प्रचलित हो जाता था। इन सब अवसरोंमें नवीन शास्त्र या शास्त्रकी नयी व्याख्याके अनुसार पूर्वप्रचलित आचार के परिवर्त्तनमें जो नये नये आचार प्रचलित हो गये हैं जब आप ही लोगोंने उसमें सम्मति प्रदान की है तब हतभाग्य विधवाओंके दौर्भाग्यसे इस प्रस्तावित विषयमें सहमति देनेमें इतनी कातरता और इतनी कृपणता क्यों दर्शाते हैं? विवेचन करके देखिये प्रस्तुत विषय पूर्वोक्त कुछ एक विषयोंकी अपेक्षा हजारों गुणा महत्वका है। देखिये यदि वैद्यजाति यज्ञोपवीत धारण और १५ दिनका अशौच पालन नहीं करती और पांचवर्षसे अधिक उमरका बालक भी दत्तकरूपसे न माना जाता तो लोकसमाजका

इस प्रकार ग्रन्थका आद और अन्त भाग देखनेसे दत्तक चन्द्रिका कुवेरकी बनाई हुई ही प्रतीत होती है। किन्तु विद्याभूषण भट्टाचार्यने ग्रन्थ समाप्तिके अवसरपर कौशल करके एक श्लोकमें अपना नाम संक्षिप्त करके दिया है। जैसे—

रम्यैषा चन्द्रिका दत्त पक्षनिदर्शिकालघु।
मनोरमा सन्निवेशै रङ्गिणां धर्मतारणि:

यह मनोहर चन्द्रिका दत्तक पथकी दिखलानेवाली. उत्तम रूपसे बनायी गयी और धर्म नदीमें नौकाके समान है।

इस श्लोकके पूर्व आधे श्लोकके आदि और अन्तके मिलानेसे "रघु" और उत्तरार्धके आदि और अन्तके अक्षर मिलानेसे "मणि" हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने दो मतलब साध लिये हैं एक तो ग्रन्थ प्रचलित हो गया। दूसरा, स्वयं ग्रन्थकार भी प्रसिद्ध हो गये। कुबेरका नाम दे देनेसे दत्तक चन्द्रिका प्राचीन ग्रन्थ माना जाकर बिना परिश्रम किये ग्रन्थ प्रचलित हो गया। और अन्तके श्लोकमें जो कौशल किया गया उससे स्वयं ग्रन्थकार भी छिपे न रहे। उसका भी रहस्य खुल गया।

किसी प्रकार भी कोई अनिष्ट होना सम्भव नहीं था। किन्तु यदि प्रस्तावित विषय विधवा विवाह प्रचलित नहीं होनेसे सैकड़ों सैकड़ों अनिष्ट हो रहे हैं जो हम हरेकदिन बराबर देखा करते हैं। आप लोगोंने इससे पूर्व केवल शास्त्र देख कर ही पूर्व प्रचलित परिवर्त्तन करते हुए नूतन आचारमें सम्मति प्रदान की। अब जब शास्त्रभी प्राप्त होता है और उसी शास्त्रके अनुसार विधवा-ओंका परिमाण और सैकड़ों सैकड़ों घोरतम अनिष्ट दूर होनेका मार्गभी हो जाता है यह बात स्पष्ट रूपसे जानते हैं। तब और अधिक इस विषयमें असहमति प्रगट करना आप लोगोंको किसी प्रकार भी उचित नहीं। जितना हो शीघ्र आप सम्मति देंगे उतना ही अधिक मङ्गल होगा। वस्तुतः देशाचारकी दोहाई देकर आप लोगोंको इसविषयमें और अधिक असहमत रहना अनुचित है। किन्तु अब भी हमें आशंका होती है कि आप लोगोंमेंसे अनेक लोग देशाचार शब्द कानमें पड़तेही प्रस्तावित विषय विधवा विवाह उचित है कि नहीं इसविषयमें तत्वानुसन्धान करना भी पाप समझेंगे और बहुतसे मन मनमें सहमत हो करभी केवल विधवा विवाहको देशाचारके विरुद्ध कहकर विधवा विवाह प्रचलित होना भी उचित है यह बात मुंहसे निकालनेका भी साहस नहीं करेंगे। हा! कितनी निन्दाकी बात है। देशाचार ही इस देशका एकमात्र शासन कर रहा है। देशाचार ही इसदेशका परम गुरु है। देशाचारका शासन ही प्रधान शासन है देशाचारका उपदेश ही प्रधान उपदेश है।

धन्य रे देशाचार! तेरी क्या अकथ महिमा है तू अपने पीछे चलनेवाले भक्त जनोंको दासता की बेड़ियोंमें जकड़कर क्या एकाधिकार कर बैठा है? तूने ही शनैःशनैः अपना एकमात्र राज्य जमाकर शास्त्रके गलेपर पैर रख लिया है। धर्मके मर्मपर

आघात किया है। हित अहितके ज्ञानपर ताला लगा दिया, न्याय अन्यायके विचार मार्गपर रोक खड़ी कर दी हैं। तेरे प्रभावमें शास्त्रभी अशास्त्र गिना जाने लगा। और अशास्त्र भी शास्त्र माना जाने लगा। धर्म भी अधर्म गिना जाने लगा और अधर्म भी धर्म माना जाता है। सर्व धर्मोंसे पतित यथेच्छाचारी लोग भी तेरे अनुयायी होकर केवल लोकाचार रक्षाके बलपर सर्वत्र साधु कहलाते और आदर पाते हैं और निर्दोष साधु पुरुष ही तेरे अनु-यायी न होकर केवल लोकाचारके प्रति उदासीन और अनादर दिखलानेके कारण कट्टर नास्तिक घोर अधार्मिक सर्व प्रकारके दोषी कहलाते और निन्दाके पात्र होते हैं तेरे अधिकारमें जोलोग जाति भ्रंशकारी धर्मनाशक पाप कर्मोंमें रात दिन लगे रहते हैं और लोक रूढ़िको बनाये रखते हैं उनके साथ लेनदेन और खानपानका व्यवहार करनेपर भी धर्म नष्ट नहीं होता। किन्तु यदि कोई निरन्तर सत्यधर्मके अनुष्ठानमे लगे रहकरभी केवल लोक रूढिके पालनमें उतना यत्नवान नहीं होता उनके साथ लेन देन और खानपान तो दूर सम्भाषण मात्र करनेसे ही एकदम धर्म लोप हो जाता है।

हा धर्म! तुम्हारा मर्म समझना भी कठिन है। कैसे हमारी रक्षा होती है और किस प्रकार तुम्हारी रक्षा होती है यह तुम ही जानते हो।

हा शास्त्र! तुम्हारी क्या दुरवस्था हो गयी है। तुमने जिन कर्मोंको धर्मका लोप करने वाला जातिसे च्युत करने वाला बार बार बतलाया है उनमें जो लोग रहकर अपना सारा समय खोते है वेही सब जगह भले पुरुष धर्मरक्षा और आदर योग्य हो जाते हैं और तुम जिनकर्मोंको शास्त्रीय धर्म रूपसे उपदेश करते हो, उनका अनुष्ठान करना तो दूर, उनकी चर्चा उठाने तकसे एकबार

मेंही घोर नास्तिक घोर अधार्मिक नयी सभ्यताका पुतला ही हो जाता है। यही पुण्यभूमि भारतवर्ष जिन नाना प्रकारके असाध्य पाप प्रवाहोंमें लूड़पुड़क रहा है उनका मूल खोजनेसे तुम्हारा अनादर और लोकरूढिकी रक्षाके एकमात्र यत्न होनेके सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होता।

हा भारतवर्ष! तुम कितने हतभाग्य हो! तू अपने प्राचीन सन्तानोंका आचारोंके कारण सर्वत्र पूण्य भूमि कहाता था। किन्तु तेरी आजकी सन्तानें अपने मन माना आचार रखकर तुझको जिस प्रकार पुण्यभूमि बनाकर ऊपर उठा दिया था उस की भावना करते ही देह भरमें खूनतक सूख जाता है। तेरी कब इस दुरवस्थासे मुक्ति होगी। तेरी वर्त्तमानकी दशा देखकर कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता।

हा भारत वासियो! और कितनी देरतक तुम लोग मोहनिद्रा में पड़े रहकर प्रमादकी सेजपर खर्राटे लोगे। एकबार ज्ञान नयन खोलकर देखो, तुम्हारी पुण्यभूमि भारतवर्ष, व्यभिचार और भ्रूण-हत्याके दोषों और पापोंके स्रोतोंमें लुड़क पुड़क रही है। और क्या? खूब होगा। अब भी सावधान होकर शास्त्रका ठीक-ठीक तात्पर्य यथार्थ मर्म, समझकर इधर मन दो। और उसके अनु-सार धर्म पालन करो। तभी अपने देशका कलंक छुड़ा सकोगे किन्तु दौर्भाग्यवश! तुमलोग अपने चिरकालसे जिन कुसंस्कारों के जिस प्रकार वश हुए हो देशाचारके जिस प्रकार दास होगये हो, कठोर मन होकर जिस प्रकार लोक रूढ़िकी रक्षा करनेपर कमर कस लिये हो, उससे इस प्रकारकी आशा नहीं की जा सकती कि तुम लोग हठसे कुसंस्कार छोड़ दो, देशाचारके पीछे न चलकर कपोल कल्पित लोक रूढ़ियोंको हटाकर ठीक-ठीक रास्ते पर चल सको। आदतकी बुराईके कारण तुम्हारी बुद्धि और

धर्मकी प्रवृत्ति ऐसी बिगड़ गयी है और मारी गयी है कि हत-भाग्य विधवाओंकी दुरवस्था देखकर भी तुम्हारे चिर कालसे सूखे नीरस हृदयोंमें करुणा रसका संचार होना कठिन है। और व्यभिचार दोष और भ्रूणहत्याके पापके प्रवल प्रवाहमें देश उथल पुथल होते देखकर भी मनमें घृणाका उदय होना असम्भव है। तुम्हारी प्राणके समान बेटियां आदि रण्डापाकी घोर आग में जलाना भी तुमको भला मालूम होता है तुम लोग असाध्य काम के वश होकर व्यभिचार दोषमें गिरजानेपर उसको बढ़ानेमें सम्मत हो, धर्म लोपके भयको तिलांजलि देकर केवल लोक लज्जाके भयसे उनकी भ्रूणहत्यामें सहायता करके स्वयं सपरिवार पापमें कलङ्कित होना चाहते हो। किन्तु भारी आश्चर्य है? शास्त्रका विधान पालन करते हुए उनका पुनः विवाह करके उनको दुःसह रण्डापेके दुःखसे रक्षा करने और अपनेको सब प्रकारके कष्टोंसे बचानेको तैयार नहीं। तुम लोग सोचो, पति वियोग हो जाने पर क्या स्त्रियोंका शरीर पत्थरका हो जाता है दुःख? क्या दुःख नहीं मालूम होता पीड़ा क्या पीड़ा रूपमें नहीं सताती। दुर्जय कामादि क्या एकही वार निर्मूल हो जाते हैं। किन्तु तुम्हारा यह सिद्धान्त नितान्त भ्रम मूलक है। पद-पदपर उसका प्रमाण मिलता चला जा रहा है। विचार कर देखो, ध्यान नहीं देनेके कारण संसार वृक्षका कितना जहरीला फल खाना पड़ रहा है। हा! कितने दुःखकी बात है। जिस देशकी पुरुष जातियोंमें दया नहीं, धर्म नहीं न्याय अन्यायका विचार नहीं हित अहितका ज्ञान नहीं, सद् असद्की विवेचना नहीं, केवल लोक रूढ़िका बचाये रखना ही प्रधान काम और परम धर्म है, उस देशमें हत-भाग्य अबला लोग और जन्म ही न लें तो ठीक है।

हा अबलागण ! तुमने किस पापके कारण भारतवर्षमें जन्म लिया ! कहा नहीं जा सकता ।

कलकत्ता संस्कृत विद्यालय
६ कार्त्तिक संम्वत् १९१२

श्री ईश्वरचन्द्रशर्मा ।



परिशिष्ट ।

THE HINDU WIDOWS' REMARRIAGE ACT 1856

Preamble

Where as it is known that by the law as administered in the Civil Courts established in the territories in the possession & under the Government of the East India Company, Hindu Widows with certain exceptions are held to be, by reason of their having been once married, incapable of contracting a second valid marriage and the offspring of such widows by any second marriage are held to be illegitimate & incapable of inheriting property, and where as many Hindus believe that this imputed legal incapacity, although it is in accordance with established custom, is not in accordance with a true interpretation of the precepts of their religion, and desire that the civil law administered by the courts of Justice shall no longer prevent those Hindus who may be so minded, from adopting a different custom, in accordance with the dictates of their own conscience; and where as it is just to relieve all such Hindus from this legal incapacity of which they complain, and the removal ot all legal obstacles, to the marriage of Hindu widows will tend to the promotion of good morals and to the public welfare. It is enacted as follows :—

1. No marriage contracted between Hindus (a) shall

Case law

(a) Act applies only to Hindu widows' remarriage as such, 19c 289; enables widows, unable to remarry previously, to remarry, 11A, 330; and does not apply to cases in which remarriage is allowed by custom of ste 11 B. 119;

Marriage of Hindu widows legalized.

be invalid, and the issue (b) of no such marriage shall be illegitimate, by reason of the woman having been previously married or betrothed to another person who was dead at the time of such marriage, any custom and any interpretation of Hindu law to the contrary not withstanding.

Rights of widow in deceased husband's property to cease on her remarriage.

2. (c) All rights and interests which any widow (d) may have in her deceased husband's property by way of maintenance, or by inheritance to her husband or to his lineal successors, or by virtue of any will or testamentary disposition conferring upon her, without express permission to remarry, only a limited interest in such property with no power of aienating the same, shall upon her remarriage cease and determine as if she has then died; and the next heirs of her deceased husband, or other persons entitled to the property on her death, shall

(b) Of a marriage under the Act can inherit, 4. P R. 1905 ; 61P.R. 1905 ;

(c) S. 2 divests her of the right only if she marries after succeeding to the estate. 26 B. 388-4Bom. L.R. 73 ; 29 B. 91. (F.B-6 Bomb. L R. 779; transfer by a Hindu—for legal necessity before her remarriage is valid, 8 C. L. J. 542 ,

(d) Section applies only to widows who could not have remarried prior to the Act, 11 A. 930 ; a—of a caste in which remarriage is allowed, e. g , the Kumri, can remain in possession for her husband's estate, till her death, 20A. 476 ; see also on 29 A. 122 ; she does not lose her right to maintenance against her husband's estate. 31 A. 161 ; she forfeits estate inherited, 22 c. 589 ; from her son, 22 B. 321 (F, B.)

thereupon succeed to the same.

3. On the remarriage of a Hindu widow, if neither the widow nor any other person has been expressly constituted by the will or testamentary disposition of the deceased husband the guardian of his children the father or paternal grand-father or the mother or paternal grand mother of, the deceased husband, may petition the highest Court having original jurisdiction in civil cases in the place where the deceased husband was domiciled at the time of his death for the appointment of some proper person to be guardian of the said children, and thereupon it shall be lawful for the said Court if it shall think fit, to appoint such guardian, who when appointed shall be entitled to have the care & custody of the said children, or of any of them during their minority, in the place of their mother, and in making such appointment the Court shall be guided, so far as may be by the laws and rules in force touching the guardian-ship of children (a) who have neither father nor mother.

Guardianship of children of deceased and on bush the remarriage o· his widow

Provided that when the said children have not property of their own sufficient for their support and proper education whilst minors, no such appointment shall be made otherwise than with the consent of the mother (b) unless the proposed guardian shall have given security for the support and proper education of the children

Case law—

(a) Meaning of—4A 195, (b) who has no right to give her son in adoption, 24 B 89;

whilst minors.

Nothing in this Act to render any childless widow capable of inheriting.

4. Nothing in this Act contained shall be construed to render any widow who, at the time of the death of any person having any property is a childless widow, capable of inherting the whole or any share of such property, if before the passing of this Act, she would have been incapable of inheriting the same by reason of her being a childless widow.

Saving of rights of widow marrying except as provided in Sections 2 and 4

5. Except as in the three preceding sections is provided a widow shall not, by reason of her remarriage forfeit (a) any property or any right to which she would otherwise be entitled, and every widow who has remarried shall have the same rights of inheritance as she would have had, had such marriage been her first marriage.

Ceremonies constituting valid marriage to have same effect on widows' marriage.

6. Whatever words spoken, ceremonies performed or engagements made on the marriage of a Hindu female who has not been previously married, are sufficient to constitute a valid marriage, shall have the same effect if spoken, performed

(a) remarriage does not prevent such a widow from inheriting her son's property, 2 B L R. A.C. 189—11 W. R 82; a remarried Marwar-- cannot claim her first husband's property, 1 M. 226; right to give in adoption is not a right reserved under the Section 24 B. 89 Contra, 3 B. 107—11 Bom, L. R. 1134.

or made on the marriage of a Hindu widow, and no marriage shall be declared invalid on the ground that such words, ceremonies or engagements are inapplicable to the case of a widow.

Consent to remarriage of minor widows.

7. If the widow remarrying is a minor whose marriage has not been consummated, she shall not remarry without the consent of her father, or if she has no father, of her paternal grandfather, or if she has no such grand father, of her mother, or failing also brothers, of her next male relative.

Punishment for abetting marriage made countrary to this Section.

8. All persons knowingly abetting a marriage made contrary to the provisions of this section shall be liable to imprisonment for any term not exceeding one year or to fine or to both.

Effect of such marriage provis No.

And all marriages made contrary to the provisions of this section may be declared void by a Court of law: provided that, in any question regarding the validity of a marriage made contrary to the provisions of this section, such consent is as aforesaid shall be presumed (a) until the contrary is proved and that no such marriage shall be declared void after it has been consummated.

Consent to remarriage of major widow.

In the case of a widow who is of full age, or whose marriage has been consummated, her own consent shall be sufficient consent to constitute her remarriage lawful and valid.

Case law. (a) Section 8A. 143.

हिन्दू विधवा पुनर्विवाह एक्ट १८५६ ।

कानून जिससे यह तात्पर्य्य है कि हिन्दू विधवा के विवाह करने में किसी प्रकार कानूनी रोक नहीं ।

भूमिका ।

चूंकि यह बात मालूम है कि जो देश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वत्व और शासन में हैं उन देशों को दीवानी अदालतों के कानून के अनुसार थोड़ी सी विधवा स्त्रियों को छोड़ कर शेष हिन्दू विधवायें एक बार विवाह हो जाने के कारण जायज़ तौर पर दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं और जो सन्तान उन विधवाओं के दूसरे विवाह से उत्पन्न हो वह अनुचित है और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं ।

और चूंकि बहुत से हिन्दुओं का विश्वास है कि यह क़ानून के अनुसार अनुचित ठहराना, यद्यपि रिवाज के अनुकूल है परन्तु उनके धर्मशास्त्र के वास्तविक अर्थों के अनुसार नहीं है और वह लोग यह बात चाहते हैं कि यदि भविष्य में कोई भी हिन्दू लोग जारी करना दूसरी रिवाज का; इस रिवाज के विरुद्ध अपने आत्मा से स्वीकार करें तो उसके जारी करने में कोई रुकावट दीवानी के क़ानून द्वारा न हो सके ।

और चूंकि यही न्याय है कि उन लोगों को इस प्रकार क़ानून से नाजायज़ ठहराने की रोक से छुड़ाया जाय जिसकी उनको शिकायत है । और हिन्दू विवाओं के विवाह के विषय में सब क़ानूनी रुकावटों के उठा देने से सदाचार बढ़ेगा और शान्ति फैलेगी ।

अतः यह आज्ञा होती है कि :—

(१) हिन्दुओं का कोई विवाह नाजायज़ न होगा और इस प्रकार के किसी विवाह की सन्तान नाजायज़ न होगी केवल इस लिये कि स्त्री का पहले विवाह हो चुका या मंगनी हो चुकी। ऐसे पुरुष के साथ में जिसकी इस दूसरे विवाह के पहले मृत्यु हो गई। चाहे इस बात के विरुद्ध कोई रिवाज या शास्त्र की व्यवस्था हो।

(२) सब अधिकार जो किसी विधवा को अपने मृत पति की जायदाद में, गुज़ारे के लिये, या पतिकी उत्तराधिकारिणी होने के कारण, या पति के वंश में कानूनी उत्तराधिकारी होने के कारण मिलते हों, या उसको किसी वसीयतनामे के अनुसार, जिसमें स्पष्ट आज्ञा पुनर्विवाह की न हो कोई जायदाद मिले जिसको पृथक करने का उसको अधिकार न हो, तो विधवा के दूसरे विवाह के समय वह सब जायदाद और अधिकार उसी प्रकार बन्द हो जायंगे और जाते रहेंगे कि जैसे वह विधवा मर गई होती और उस विधवा के मृत पति के निकटस्थ उत्तराधिकारी या वह लोग जो उस विधवा के मरने पर जायदाद के उत्तराधिकारी होते उस जायदाद को लेंगे।

(३) यदि हिन्दू विधवा के विवाह के समय उसके मृत पति ने अपने वसीयतनामें के अनुसार स्पष्टतया अपनी विधवा को या किसी अन्य पुरुष को अपनी सन्तान का वली नियत न किया हो मृत पति का पिता, या पिता का पिता, या माता या पिता की माता, या मृत पति के किसी सम्बन्धी पुरुष को इस बात का अधिकार होगा कि वह उस स्थान पर जहां मरने के समय वह मृतपति रहता था सब से ऊंची अदालत में जिसको दीवानी के असली मुकद्दमें सुनने का अधिकार है, यह अर्जी दे कि उचित पुरुष उस सन्तान का वली नियत किया जाय और

उस अर्जी पर यदि अदालत उचित समझे तो वली नियत करदे और जब वली नियत हो तो उस वली को अधिकार होगा कि समस्त सन्तान या उनमें से थोड़े बच्चों का पालन पोषण और रक्षण उनकी कम अवस्था होने तक उनकी माता के बजाय रक्खे। और जब अदालत ऐसा वली नियत करे तो उसे जहां तक सम्भव हो सके उन सब कानूनों की पैरवी करनी पड़ेगी जो उन बच्चों के वली नियत करने के सम्बन्ध में हों जिनके माता पिता नहीं हैं।

परन्तु शर्त यह है कि यदि इन उपर्युक्त बच्चों के पास अपनी काफ़ी जायदाद न हो जिससे उनका छोटी अवस्था में पालन और शिक्षा हो सके तो माता की इच्छा के बिना कोई वली नियत न किया जायगा, सिवाय उस दशा के, जब वली यह ज़मानत करदे कि छोटी अवस्था में मैं इन बच्चों के पालन पोषण और शिक्षा का भार अपने सिर लूंगा।

(४) इस क़ानून की किसी इबारत से यह बात न समझी जायगी कि कोई विधवा जो किसी जायदाद वाले पुरुष के मरने के समय सन्तान रहित है यदि इस क़ानून के पास होने से पूर्व सन्तान रहित होने के कारण जायदाद पाने की अधिकारिणी नहीं थी तो वह अब उस सब जायदाद या उसके किसी भाग के पाने की अधिकारिणी होगी।

(५) सिवाय उन शर्तों के, जिनका वर्णन इससे पहले की तीनों धाराओं में हो चुका है, कोई विधवा पुनर्विवाह कर लेने के कारण किसी सम्पति या दायभाग से, जिसके पाने की वह और प्रकार से अधिकारिणी है, अलग नहीं होगी और प्रत्येक विधवा का जिसने पुनर्विवाह किया है उसी प्रकार का स्वत्व सम्पत्ति पर रहेगा मानो यह विवाह उसका पहला ही विवाह था।

(६) जिस हिन्दू स्त्रीका पहले विवाह न हुआ हो उसके विवाहके समयमें जिन शब्दों के बोलने या जिन रस्मोंके करने या जिन प्रतिज्ञाओं के करने से वह विवाह विधि अनुकूल होता है, हिन्दू विधवा-विवाह के समय उन्हीं शब्दों के बोलने, उन्हीं रस्मों या प्रतिज्ञाओं के करने से उसका पुनर्विवाह विधि अनुकूल ठहरता है। और कोई विवाह इस कारण से नाजायज न ठहराया जायगा कि ऐसे शब्द या रस्में या प्रतिज्ञायें विधवा के विषय से सम्बन्ध नहीं हैं।

(७) यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहे और वह नाबालिग हो और उसका पहिले पति से संयोग न हुआ हो तो अपने पिता, या जो पिता न हो तो पिता के पिता और जो पिता का पिता न हो तो अपनी माता और जो यह सब न हों तो अपने बड़े भाई और यदि भाई भी न होवें तो अपने दूसरे निकटस्थ सम्बन्धी की इच्छा के बिना वह विधवा पुनर्विवाह न करेगी।

(८) और जो लोग जान बूझ कर किसी ऐसे विवाह में सहायता दें जो इस धारा की शर्तों के विरुद्ध है तो वह सब लोग अधिक से अधिक एक वर्ष तक कैद या जुर्माना या दोनों के दण्डनीय होंगे।

और जो विवाह इस एक्ट की शर्तों के विरुद्ध किये जायें उनको नाजायज़ ठहराने का अदालत को अधिकार होगा।

पर शर्त यह है कि जो कोई झगड़ा इस प्रकार का पड़े कि विवाह इस कारण नाजायज़ है कि इस एक्ट की शर्तों के विरुद्ध किया गया है तो जब तक रज़ामन्दी सिद्ध न हो उस समय तक रज़ामन्दी का देना स्वीकार कर लिया जायगा। और यदि उन स्त्री पुरुषों का संयोग होगया हो तो कोई विवाह

नाजायज़ न ठहराया जायगा।

यदि विधवा बालिग़ है या उसका अपने पूर्व पति से संयोग हो चुका है तो स्त्री की ही रज़ामन्दी उसके पुनर्विवाह के करने में क़ानून और रस्म के अनुसार जायज़ ठहराने को पर्याप्त होगी।

इस एक्ट से इतनी बातें प्रकाशित होती है :—

(१) प्रत्येक हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह जायज़ है चाहे अक्षत योनि, चाहे क्षतयोनि, चाहे सन्तान वाली या सन्तान रहित।

(२) यदि अक्षत योनि और नाबालिग़ हो तो पुनर्विवाह केवल पिता, पितामह, माता बड़े भाई, या इनके अभाव में किसी निकटस्थ पुरुष की रज़ामन्दी से ही हो सकेगा।

(३) और यदि क्षत योनि या बालिग़ हो तो केवल उसी की रज़ामन्दी पर्य्याप्त है।

(४) जो सम्पत्ति विधवा को अपने पूर्व पति की केवल गुज़ारे के तौर पर मिलती है वह पुनर्विवाह के पश्चात् उससे छिन जाती है।

(५) परन्तु जो सम्पत्ति उसकी अन्यथा होती है वह छिन नहीं सकती।

(६) विधवा को पुनर्विवाहित पति से जो सन्तान होती है वह जायज़ सन्तान अपने पिता की होती है और उसकी सम्पत्ति की भी उत्तराधिकारिणी होती है।

इस लिये विधवा-विवाह करने वालों को किसी प्रकार का भी क़ानूनी भय नहीं है।

विधवाविवहान्तर्गत
श्लोकोंकी अनुक्रमणिका